द. ग्री. जातूला, से. अ. मामेदवा

विषाणु— मित्र या शत्रु?

ललित विज्ञान साहित्य

Д. Г. Затула С. А. Мамедова

Вирус — друг или враг?

издательство «Педагогика»

द. ग्री. जातूला से. अ. मामेदवा

विषाणु – मित्र या शत्रु?

अनुवादक : रमोन्द्र पाल सिह

D. G. Zatula

S. A. Mamedova

Virus–Friend or Foe?

На языке хинди

सोवियत संघ में मुद्रित

ISBN 5-03-000301-0

विषय-सूची

प्रस्तावना

प्राचीन काल से ही मानव अपने आस-पास की प्रकृति से परिचित होने लगा और उसने देखा कि दो प्रकार के जगत हैं : जीव जगत और वनस्पति जगत। लोग जगतों के प्रतिनिधियों के बीच रहते थे, उनके बारे में ज्ञान हासिल करते थे और उन्हें अपने वश में करते थे। लेकिन जैसे-जैसे प्रकृति पर मानव का प्रभुत्व बढ़ता गया, वैसे-वैसे किन्हीं अज्ञात शक्तियों का प्रभाव भी उनके लिए स्पष्ट होने लगा। ज्ञानेंद्रियों से इन्हें महसूस नहीं किया जा सकता था; ऐसा लगता था जैसे कि वे प्रकृति में थीं ही नहीं। लेकिन इनके कार्य ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रह सकते थे। युद्धों, भूकंपों या ज्वालामुखियों के फटने के फलस्वरूप मरने वालों की तुलना में भयंकर महामारियों से मरने वाले लोगों की संख्या कई गुना अधिक होती थी।

कुछ प्रमुख विचारक अंदाज लगा रहे थे कि मनुष्यों और पशुओं के बहुत सारे रोग जीवाणुओं की कार्यशीलता के परिणाम हैं। प्राचीन तथा मध्ययुगीन वैज्ञानिक इस शत्रु के बारे में जानने का प्रयास करते थे तथा इससे लड़ने और मनुष्य के बचाव के साधनों को ढूंढ़ते थे। उनके प्रेक्षण, लक्षणों के सविस्तार वर्णन के कारण मूल्यवान हैं। सूक्ष्म-दर्शी के आविष्कार के बाद इस सूक्ष्म जगत के कुछ वासियों को देख पाना संभव हुआ। प्रयोगों की सहायता से वैज्ञानिक इन अतिसूक्ष्म जीवों

की प्रकृति को जानने तथा इनसे संघर्ष के साधन ढूंढ़ने में सफल हुए । लेकिन जब ऐसा लगने लगा कि इस सूक्ष्म जगत पर विजय प्राप्त करने की दिशा में केवल एक कदम बाकी रह गया है, तो पता चला कि सिर्फ ज्ञात सूक्ष्म जीवों द्वारा ही सभी बीमारियां नहीं उत्पन्न होतीं ।

रूसी जीव-वैज्ञानिक दिमित्री इवानोव्स्की ने एक रोचक प्रयोग द्वारा अतिसूक्ष्म सजीव कणों के अस्तित्व को प्रमाणित किया और एक नये विज्ञान—विषाणु-विज्ञान (वाइरोलौजी)—की नींव रखी ।

ज्यादातर स्थितियों में विशेषज्ञ लोग वाइरस (रूसी में—वीरूस, हिंदी में—विषाणु) को मानव व सारी सजीव प्रकृति के शत्रु के रूप में देखते हैं । लेकिन कुछ शोधकार्यों के परिणामों से यह आशा होने लगी है कि निकट भविष्य में वाइरस मानव के लिए कल्याणकारी भी सिद्ध होंगे ।

वाइरस को पालतू बनाने और उस पर नियंत्रण करने में सफलता मिलने से मनुष्य के सामने बड़ी-बड़ी संभावनाएं खुल जाती हैं । उदाहरणार्थ वाइरस, वैज्ञानिक-चयनकर्ता की इच्छानुसार एक कोशिका से आवश्यक जीन (आनुवंशिकता की प्रारंभिक इकाइयां) लेकर, दूसरे जीव की कोशिका में स्थानांतरित किया जा सकता है और आनुवंशिक कोड को आवश्यक दिशा में बदला जा सकता है । इस प्रकार विभिन्न जीवों और पौधों में नये लाभदायक गुणों का सन्निवेश किया जा सकता है ।

विषाणु-विज्ञान दूसरे बहुत से विज्ञानों की सफलताओं पर आश्रित है । अधिक महत्वपूर्ण शोधकार्य भौतिकविदों द्वारा प्रस्तावित, डिजाइनरों व इंजीनियरों द्वारा परियोजित तथा विभिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित श्रमिकों द्वारा बनाये हुए साज-सामान तथा उपकरणों के जरिये पूरे किये जाते हैं ।

विषाणु-विज्ञान नया विकासशील विज्ञान है । इसके अन्तर्गत अध्ययन की जाने वाली वस्तुएं बहुत छोटी होती हैं जिन्हें देखने के लिए जटिलतम उपकरणों तथा आवश्यक प्रयोगों को संपादित करना होता

है। विषाणु-वैज्ञानिकों के शोधकार्यों के परिणाम मानवजाति के भविष्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालेंगे।

वाइरस अभी तक मानव के नियंत्रण से बाहर है। फिर भी, कुछ सफलताएं मिली हैं। यह विजय की शुरूआत है जो हमें आशावान बनाती है, नये विचारों को जन्म देती है।

अदृश्य राज्य के द्वार पर

दो हजार वर्ष पूर्व. 'महान' कहे जाने वाले कांसुल गनेई पम्पेई दो सप्ताह से बिना किसी प्रतिरोध के परायी धरती पर रोमन सेना को बढ़ाये जा रहे थे।

महान पम्पेई ने दस श्रेष्ठ टुकड़ियों वाली सायुध सैन्य के वयोवृद्ध लेगेट* से पूछा : "क्या विश्व में ऐसी कोई शक्ति है जो मेरी सेना को रोक सकती है ?"

अपने ही विचारों में मग्न लेगेट ने प्रश्न पर ध्यान नहीं दिया। परन्तु इससे कांसुल नाराज नहीं हुए। वह पहले से ही जानते थे कि ध्यानमग्न लेगेट को यथार्थ जगत में लाना बहुत कठिन है। इसलिए उन्होंने स्वयं उत्तर दिया :

"इन योद्धाओं को कोई भी नहीं रोक सकता। ये आसानी से पहाड़ों और दलदलों को लांघते हैं, खुले युद्ध में शत्रु को नष्ट करते हैं तथा उसकी किलेबंदी पर चोट करते हैं।"

लेकिन लेगेट (प्रतिभाशाली वैज्ञानिक), जिनका नाम वारोन मार्क तेरेंसी था, इस समय सोच रहे थे कि इस शक्तिशाली और रौनकदार जुलूस का कब क्या हो जायेगा—यह पहले से कौन बता सकता है ? वृद्ध अनुभवी योद्धा ने सोचा : मानव की शक्ति सिर्फ उसकी मांसपेशियों में ही नहीं, बल्कि उसकी बुद्धि में भी है। और, बुद्धि अभ्यास से परिपक्व होती है, उसी प्रकार जैसे शरीर व्यायाम से। मार्क वारोन बचपन से रोम और एथेन्स में पढ़े थे। उन्होंने अपने देशवासियों के लिए अनेक पुस्तकें लिखीं, उन्हें 700 सुप्रसिद्ध ग्रीक और रोमन व्यक्तियों के कार्यों से परिचित कराया। लोग अपने चारों तरफ की दुनिया को कितना कम जानते हैं। लेकिन सबसे बुरी बात यह है कि वे उसको जानना भी

* लेगेट—रोमन लेफ्टिनेंट जनरल।
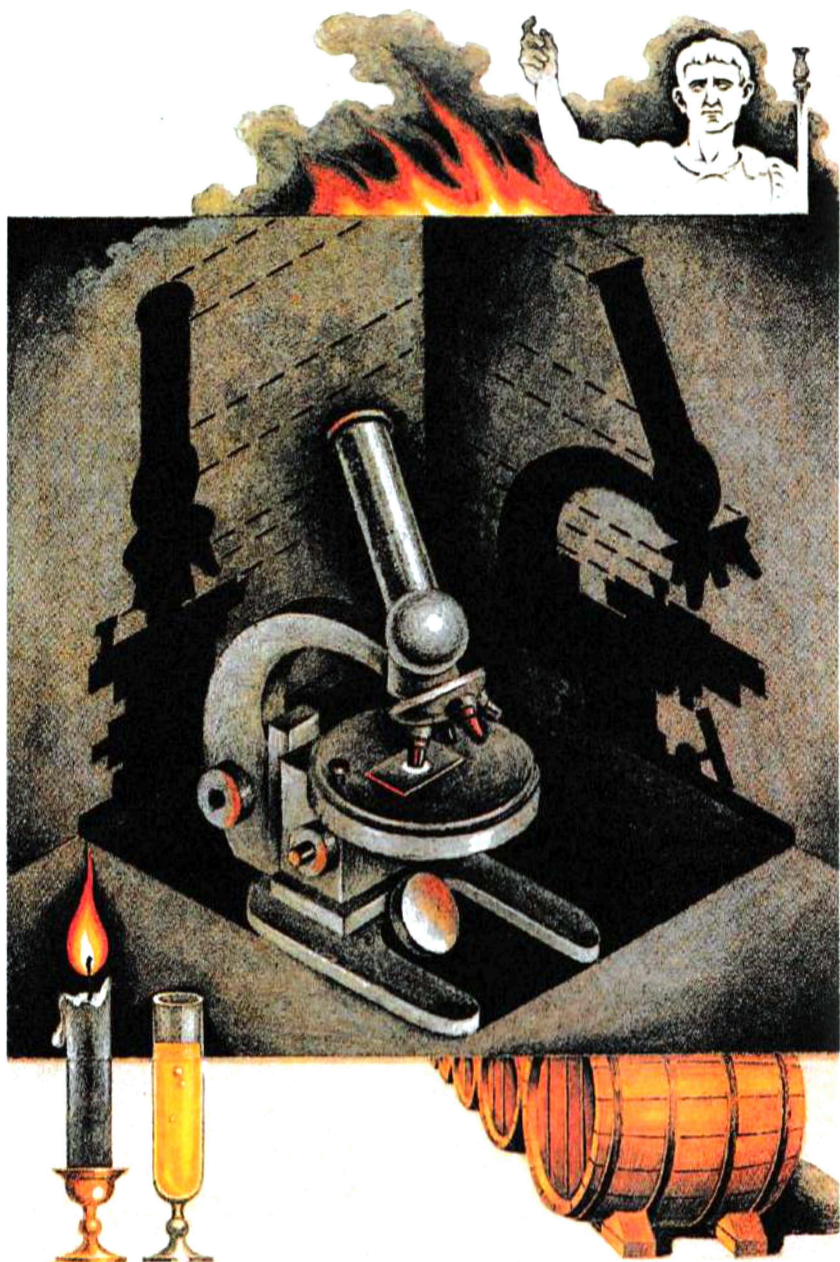
नहीं चाहते । प्रकृति में सब कुछ सुव्यवस्थित है, संचालन श्रेष्ठ नियमों के अनुसार होता है । लोग अच्छी तरह से तब रहने लगेंगे, जब वे जीव और वनस्पति, और संभव है कि इतर प्राणियों की भी दुनिया के नियमों को जान लेंगे । इतर प्राणी? क्यों नहीं ? हम उन्हें देख नहीं पाते, इसका मतलब यह नहीं कि वे हैं ही नहीं । "जिंदाबाद" के शब्दघोष ने वैज्ञानिक का ध्यान भंग कर दिया । यह उनका दस्ता पहाड़ी तक पहुंचकर अपने सेनापतियों का अभिनंदन कर रहा था ।

शाम को सेना ने विश्राम के लिए जब पड़ाव डाला, तो प्रथम रोगियों का पता लगा । गर्म मौसम के बावजूद सैनिक सारी रात जलते अलाव से गर्मी पाने की कोशिश करते हुए ठंड से कांपते रहे । सुबह तक इतने ज्यादा सैनिक बीमार हो गये कि कांसुल समझ गये कि उनकी सेना युद्ध-क्षमता खो चुकी है । उन्होंने लेगेटों की बैठक बुलायी ।

वारोन मार्क तेरेंसी महामारी के कारण के बारे में कांसुल के प्रश्न का क्या उत्तर दे सकते थे ?

देवताओं की इच्छा ? अक्सर इसी तरह से भयंकर रहस्यपूर्ण घटनाओं को समझाया जाता है—लेगेट ने सोचा ।

लेकिन इस तरह के स्पष्टीकरण से फायदा कम ही है; यह बीमारियों से लड़ने में सहायता नहीं करता । स्वयं हाइपोक्रेट, प्राचीन चिकित्सा-विज्ञान के सुधारक, का विचार था कि वायु के साथ मनुष्य के शरीर में विषाक्त वाष्प प्रवेश कर सकते हैं जो विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं । उन्हीं के देशवासी महानतम इतिहासकार थुकीदिद ने कहा कि रोगों का कारण सजीव कंटेजी* हैं । पूर्णतः संभव है कि वे किन्हीं दूसरे नियमों के अनुसार अपने ही किसी अदृश्य जगत में रहते हों ।

इस प्रकार दो हजार वर्ष पूर्व प्राचीन रोमन लेगेट, वैज्ञानिक वारोन

---

* कंटेजी—छूत से शरीर में प्रविष्ट होने वाले ।

ने, एक साहसी परिकल्पना व्यक्त की : "दलदली जगहों में ऐसे छोटे-छोटे जीव उत्पन्न होते हैं जिन्हें आंखों से नहीं देखा जा सकता, वे वायु में फैलकर मुख और नाक के छिद्रों से होकर मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और गंभीर रोगों को जन्म देते हैं"।

इन अदृश्य उद्दीपकों के बारे में, जो जल व वायु के माध्यम से रोग फैलाते हैं, वैज्ञानिक पूर्वधारणा एक अद्वितीय चिकित्सक तथा दार्शनिक आवीसेन द्वारा प्रचलित हुई (मध्य एशियाई देशों और ईरान में, जहां वह वजीर थे, उन्हें अबू अली इब्न-सीना के नाम से पुकारा जाता था)। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व उन्होंने मानव के स्वास्थ्य और रोगों के बारे में कई पुस्तकें लिखीं, जिनके आधार पर योरप व पूर्वी देशों के चिकित्सकों की अनेक पीढ़ियों ने शिक्षा प्राप्त की।

सैकड़ों वर्ष बाद. सदियां बीत गयीं। दास-प्रथा वाले साम्राज्य अब नहीं रहे। योरप पर फैले मध्ययुगीन धर्माधिकरण के काले बादल छंट गये। विभिन्न युद्ध तथा विद्रोह समय-समय पर अनेक देशों व महाद्वीपों को हिलाते रहते थे। सभ्यता विकसित हो रही थी, लोगों की आर्थिक गतिविधियां बढ़ रही थीं। मानव सफलतापूर्वक अपनी कठिनाइयों को हल करते हुए प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर रहा था।

सिर्फ एक समस्या ने अपने आपको प्राचीन समय से ही मनुष्य की विकसित तथा परिपक्व बुद्धि के अधीन नहीं होने दिया। समय-समय पर युद्धों और धर्म-दंडों से भी ज्यादा भयंकर महामारियों के प्रकोप से बस्तियां, शहर और देश मिट जाते थे। प्लेग, चेचक, हैजा, पीत ज्वर, साइबेरियन नासूर—और ऐसे ही अन्य संक्रामक रोग लाखों लोगों की जानें ले लेते थे। अक्सर महामारियों के साथ जंतुमारी भी फैलती थी, जिससे हजारों की संख्या में पशु मर जाते थे। लोग अपने आपको बेसहारा और अरक्षित समझते थे। यहां तक कि वे लोग, जो बड़े से

बड़े खतरे का सामना करने में भी नहीं घबराते थे, इन अदृश्य शत्रुओं के सामने अपनी हिम्मत खो बैठते थे।

हां, अच्छे प्रेक्षकों ने इस बात पर ध्यान दिया था कि, उदाहरणतया, प्लेग नामक महामारी पहले छोटे कृन्तकों में फैलती थी तथा फिर किसी रोगी के सम्पर्क में आने या बीमार जीव के काटने से लोगों के बीच फैलती थी। अधिक पैनी दृष्टि वाले लोग समझते थे कि असली दोषी आदमी या पशु नहीं, बल्कि रोगी में छिपा हुआ कोई अदृश्य तत्व है।

इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, पुनर्जागरण काल के इतालवी वैज्ञानिक, चिकित्सक, खगोलज्ञ, कवि जिरोलामो फ्राकास्तोरो ने संक्रामक रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण सूक्ष्मतम अदृश्य भ्रूणों के प्रभाव को बताया, जिनकी उत्पत्ति एक द्रव्य से होती है।

इन खतरनाक अदृश्यों का रहस्य खोलने में उन वैज्ञानिकों के प्रयोगों ने सहायता की, जो महामारियों पर विजय की ओर एक कदम भी आगे बढ़ा सकने के लिए अपने प्राणों की बलि देने को तैयार थे। इस प्रकार के साहसी अनुसंधानकर्ताओं में एक ऐऊसेबियो वाल्ली का नाम (लूक्का राज्य के वासी, जो 19-वीं शती में इटली में मिल गया) आता है। वाल्ली ने अपने हाथ पर घाव किया और उसमें प्लेग की गिल्टी तथा चेचक के दाने से पीप लेकर डाली; परिणामस्वरूप वाल्ली हल्के रूप में केवल प्लेग से पीड़ित हुए। इस प्रकार, एक बहुमूल्य वैज्ञानिक प्रेक्षण प्राप्त हुआ : "एक साथ दो प्रकार के उद्दीपकों को शरीर में प्रवेश कराने से सिर्फ एक बीमारी प्रकट होती है और वह भी अपेक्षाकृत हल्के रूप में"।

सैकड़ों शोधकर्ताओं ने इस अदृश्य परन्तु खतरनाक जगत के रहस्यों को जानने का प्रयास किया। इस घातक जोखिम को समझा जा सकता है। इस जगत के नियमों और इसके वासियों की आदतों के अज्ञान के बदले लाखों लोगों का जीवन !—यह बहुत बड़ी कीमत है।

आजकल ऐसे प्रयोग तत्सम्बन्धी प्रतिमानों पर, जैसे विभिन्न जंतुओं, मुर्गी के भ्रूण या ऊतकीय नमूनों पर, जटिल भौतिक एवं रासायनिक उपकरणों, विशुद्ध अभिकर्मकों तथा कम्प्यूटरों द्वारा किये जाते हैं।

''सूक्ष्मदर्शी ने हमारे लिए अनेक रहस्यों को खोला है''—महान रूसी वैज्ञानिक मिखाईल लोमोनोसोव ने विज्ञान के विकास में सूक्ष्मदर्शी के महत्व का मूल्यांकन इन्हीं शब्दों में किया है। 17-वीं शती से पूर्व, जब सूक्ष्मदर्शी नहीं बना था, अनेक प्रकार के लेंसों से—और यहां तक कि आवर्धन शीशों के तंत्रों की सहायता से भी—छोटी वस्तुओं को देखने के प्रयास किये गये। मनुष्य की नंगी आंख उन दो बिन्दुओं में अन्तर कर सकती है जिनके बीच की दूरी 0.1 मि.मी. से कम नहीं हो। यही दूरी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत के बीच की सीमा थी। लेंसों ने ज्ञात वस्तुओं के नये-नये विवरणों को दिखाकर दृश्य और अदृश्य के बीच की सीमा को दूर धकेल दिया। बहुत से लोग आवर्धन लेंसों द्वारा प्रक्षेप में रुचि रखने लगे, लेकिन सबसे अधिक सफलता हॉलैंड के प्रकृतिविद एंतोनी वान लीवानहूक को मिली।

ए. लीवानहूक द्वारा खोजे गये जीवित प्राणियों के इस अद्भुत संसार ने अधिकाधिक शोधकर्ताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इसके बारे में गहराई से जानना इतना आसान नहीं था। यह जगत अपने रहस्यों को छिपाकर रखना जानता है। प्रख्यात स्वीडिश प्रकृतिविद कार्ल लिन्ने ने 18-वीं सदी में वनस्पति और जन्तु जगत का सविस्तार वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने जीवाणुओं को एक वर्ग में रखा, जिसे ''अनियमित'' नाम दिया।

प्रेक्षण जारी रहे। 18-वीं शती के अंत और 19-वीं शती के शुरू में जीव जगत के सबसे छोटे प्रतिनिधियों के रूप में स्वीकृत जीवाणुओं की रचना, आकृति और विस्तार के बारे में जानकारी संचित हुई। लेकिन प्रकृति और मानव-जीवन में इनकी क्या भूमिका है? ये कैसे रहते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर जीवाणु-विज्ञान ने दिया।

जीवाणु-विज्ञान का प्रादुर्भाव. 18-वीं सदी में सूक्ष्मदर्शीय जीवों का अध्ययन करने वालों का ध्यान एक प्रश्न पर अटका हुआ था—जीवाणुओं का उद्भव कैसे होता है। वे मानते थे कि उनका जन्म स्वतः-स्फूर्त रूप से होता है। फिर भी इतालवी लाजारो स्पालंत्सानी और रूसी मार्तिन तेरेखोव्स्की के रोचक प्रयोगों ने दिखाया कि लीवानहूक द्वारा खोजे गये जीव अत्यधिक सूक्ष्म हैं, और वे निष्कीटित स्थान में नहीं उत्पन्न होते; पर वे अपने लिए अनुकूल परिस्थितियों में पनपते हैं और उनका विभाजन होता है।

प्रख्यात फ्रांसीसी वैज्ञानिक लुई पाश्चर की खोजें निर्णायक थीं। उन्होंने स्वतःस्फूर्त उत्पति के बारे में कहा : "नहीं, आज एक भी ज्ञात तथ्य नहीं है, जो यह प्रमाणित कर सके कि सूक्ष्मदर्शीय जीव बिना भ्रूण, बिना अपने सदृश जनक जीवों के उत्पन्न होते हैं। वे लोग जो इससे प्रतिकूल विचार रखते हैं किसी भ्रम के शिकार हैं या उनके प्रयोगों में कोई गलती है जिसे वे देख नहीं पाये या जिसे वे दूर नहीं कर पाये"।

19-वीं सदी में वैज्ञानिकों द्वारा जीवाणुओं पर किये गये प्रयोगों से बहुत सफलता मिली। इन प्रयोगों से जीवाणुओं की क्रियाशीलता का, यानी उनकी शरीरक्रिया का, सविस्तार अध्ययन करना संभव हुआ। इतना ही नहीं। जीवाणु-विज्ञान, जो अभी बिल्कुल नया था, मानव के व्यावहारिक कार्यकलापों में भी भाग लेने लगा।

जीवन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्नों के प्रति वैज्ञानिक का क्या रुख होना चाहिए, इसके जीवंत उदाहरण लुई पाश्चर थे, जिन्होंने अंगूर की खेती करने वाले किसानों पर आयी विपत्ति की ओर ध्यान दिया।

पाश्चर के जीवन का आदर्श था : "नये ज्ञान की खोज। विज्ञान जीवन और व्यावहारिक कार्यों के लिए है"। पाश्चर ने अंगूर की खेती करने वाले किसानों की विनती पर सहानुभूति दिखाते हुए, उनकी अच्छी शराब को खराब होने से बचाने का निश्चय किया। किसानों ने बताया कि कभी-कभी बिना किसी कारण के अकस्मात शराब सिरके

में बदल जाती है। उन्होंने अपने उत्पादन को बचाने के लिए बहुत प्रयास किये, लेकिन सब व्यर्थ रहे।

पाश्चर ने काम करना शुरू किया। उन्होंने जब लगभग सभी कनस्तरों में झांक कर देखा, तो उन्हें कई जगह शराब की सतह पर तैरती हुई झिल्लियां नजर आयीं। उन्होंने एक महत्वपूर्ण व रोचक नियमितता का पता लगाया : झिल्ली जितनी ही घनी थी, शराब में सिरके की मात्रा उतनी ही अधिक थी। सूक्ष्मदर्शी से झिल्ली के टुकड़ों को देखकर वैज्ञानिक ने कुछ विलक्षण जीवाणुओं का पता लगाया। इन जीवाणुओं को शराब खट्टी करने का दोषी सिद्ध करने के लिए उन्होंने एक प्रयोग किया। उन्होंने उच्च कोटि की शराब ली और उसे दो बर्तनों में डाला। फिर उनमें से एक बर्तन में अम्लीय शराब वाले एक कनस्तर से झिल्ली का एक टुकड़ा लेकर डाला और दूसरे बर्तन को तुलना के लिए सील कर दिया। संदेह सही निकला : पहले बर्तन वाली शराब अम्लीय हो गयी, लेकिन दूसरे में अपरिवर्तित रही। ज्ञात हो गया कि शराब के अम्लीय होने का कारण थे—जीवाणु।

विपत्ति के दोषियों का पता लगाकर पाश्चर ने इनसे रक्षा का उपाय तैयार किया, जो आजकल पाश्चरीकरण के नाम से जाना जाता है। जीवाणुओं को—तापक्रम बढ़ाकर—खत्म किया जा सकता है। उस समय से फलों के रस, दूध और अन्य खाद्य-पदार्थों को 65°C से 80°C तापक्रम तक गर्म करते हैं। इस तापक्रम पर पदार्थों के पौष्टिक गुण सुरक्षित रहते हैं, पर जीवाणु मर जाते हैं। चिकित्सा में प्रयुक्त औजारों और सामग्रियों को निष्कीटित करने के लिए यही विधि प्रयोग में लायी जाती है; लेकिन इस स्थिति में तापक्रम अधिक उच्च होता है—दबाव के तहत 100°C, या इससे भी अधिक।

पाश्चर का यश सारे फ्रांस में फैल गया। उनसे रेशम के कीड़े पालने वालों ने सहायता मांगी। कोई रहस्यमयी बीमारी रेशम के कीड़ों को मार देती थी। फलस्वरूप बहुत अधिक आर्थिक हानि होती

थी। और, वैज्ञानिक ने उन जीवाणुओं को ढूंढ़ निकाला जो रेशम के कीड़ों में बीमारी उत्पन्न करते थे। महामारियों और जंतुमारियों के रहस्यों को ढूंढ़ने का रास्ता खुल गया !

अपने वैज्ञानिक शोधकार्यों में पाश्चर ने जीवाणुओं की हानिकारक भूमिका के साथ लाभदायक भूमिका भी दिखायी। लुई पाश्चर को मानवजाति ने जिस बात के लिए श्रेय दिया है, वह रोग-निरोधक टीकों की खोज है।

उद्दीपक के विरुद्ध उद्दीपक. रोगों पर काबू पाने की प्रवृत्ति मानव में बहुत प्राचीन समय से ही रही है। पर यह सच है कि इस क्षेत्र में कुछ विशेष सफलता उसे नहीं मिली। फारस में 11-वीं शती से ही चर्म में चीरा लगाकर उसमें चेचक के दाने के पाउडर को लगाने की विधि प्रचलित थी। जहां तक ज्ञात है, अठारहवीं शताब्दी में लड़कियों को चेचक के घाव में डुबोई सुई लगायी जाती थी। माता-पिता रोगों से उनकी रक्षा करना चाहते थे। वे मानते थे (और यह ठीक भी था) कि यदि उनकी लड़कियों को चेचक हो गयी, तो चेहरे पर दाग के कारण उनकी सुन्दरता कम हो जायेगी। पता नहीं कि विभिन्न देशों के लोग रोग की रोकथाम के लिए टीके की विधि के ज्ञान तक कैसे पहुंचे, लेकिन सन् 1788 में इंगलैंड के चिकित्सक एडवर्ड जेनेर ने जानबूझकर प्रयोग करने का खतरा उठाया। शिक्षित और प्रेक्षणशील होने के कारण, उन्होंने इस बात पर ध्यान दिया कि गौ चेचक से बीमार हो चुकने के बाद किसान इस "काले रोग" से पीड़ित नहीं होते। लेकिन विज्ञान के लिए केवल अवलोकन ही पर्याप्त नहीं होता; उसे प्रमाण की आवश्यकता होती है। केवल कोई अत्यधिक दुस्साहसी व्यक्ति ही मानवजाति के दो निर्दय शत्रुओं—चेचक और अंधविश्वास—के साथ अकेला जूझ सकता था। और, इस लड़ाई में जेनेर की विजय हुई।

लेकिन जेनेर के अनुसार टीका लगाने की विधि के प्रचलन का श्रेय

लुई पाश्चर को ही दिया जाता है। रोधक्षमता-विज्ञान, जीव की रक्षा-प्रतिक्रिया के विज्ञान, को सैद्धान्तिक आधार बनाकर पाश्चर ने टीका बनाने की विधि का नियम प्रस्तुत किया। अपने सहयोगियों के साथ मिलकर उन्होंने साइबेरियन व्रण, पागलपन, मिर्गी, हैजा, सुअरों में फैलते खसरा, आदि, रोगों के लिए वैक्सीन बनायी। कई शताब्दियों तक लोग प्लेग, चेचक और हैजे का नाम सुनकर ही कांप उठते थे। होता यह था कि जीव-जगत और वनस्पति-जगत के विजेता और नियंत्रक—मानव—पर किसी भी क्षण असंख्य छोटे-छोटे अदृश्य जीव हमला करके विजय प्राप्त कर सकते थे। लेकिन आदमी को बुद्धि यूं ही नहीं मिली है। हाल ही में खोज निकाले गये इस नये अदृश्य राज्य के कुछ रहस्यों का उद्घाटन करके वैज्ञानिकों ने समझ लिया कि इस खतरनाक शत्रु का मुकबला करने के लिए उसके "भाई-बन्धुओं" को ही भेजना चाहिए—पर ये भाई-बन्धु पालतू होने चाहिए, जिससे कि वे मनुष्य को हानि न पहुंचा सकें। इस मुहावरे के अनुसार कि "कांटे से कांटा निकलता है," पाश्चर और उनके सहयोगियों ने निश्चय किया कि मनुष्य और जन्तुओं के अन्दर क्षीण शक्ति वाले रोगाणुओं से रोग की रोक-थाम करें। कार्य आश्चर्यजनक रूप से सरल था; बहुत सरल था—पर साथ ही बुद्धिमानी का प्रतीक भी था। रोग के टीके की खोज के लिए सर्वप्रथम और सबसे महत्वपूर्ण कदम था—रोग के उद्दीपक की खोज।

रोगाणुओं का शिकार शुरू हुआ. लीवानहूक जीवाणुओं को प्रकाश में देखते थे। बाद में, इस विधि का नाम "लटकी हुई बूंद की विधि" पड़ गया। यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि बूंद को लेंस और प्रकाश के बीच रखा जाता है। खोजकर्ता पारदर्शी द्रव की पृष्ठभूमि में सूक्ष्मदर्शी आकार वाले जीवाणुओं की पर्याकृति देखता है और उनकी गति भी (यदि वे गति कर सकने के लायक होते हैं)। लेकिन इनके अन्य विवरण नहीं दिख पाते। और यह बहुत महत्वपूर्ण है। जीवाणु का नाम बिलकुल

ठीक-ठीक निर्धारित करना चाहिए, इसमें गलती नहीं होनी चाहिए—शोधकार्य की उच्च कोटि पर मानव का स्वास्थ्य, तथा अक्सर जीवन भी, निर्भर करता है।

किसी भी भौतिक वस्तु का अध्ययन करने के लिए उसको पहले उपलब्ध करना वांछनीय है। यह एक साधारण सत्य है। इस प्रकार, किसी भी संक्रामक रोग के जीवाणुओं का अध्ययन करने के लिए उन्हें उनके साथ निलम्बित अन्य अशुद्धियों व सूक्ष्मदर्शीय वस्तुओं से अलग कर देना चाहिए, अर्थात बैक्टीरिया का शुद्ध समूह प्राप्त करना चाहिए। इस शुद्ध समूह को प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिकों ने विभिन्न युक्तियां लड़ायीं। सूक्ष्म-जीव-वैज्ञानिक शोधकार्य की विधि में एक क्रांति लाने का श्रेय अद्वितीय जर्मन सूक्ष्म-जीववैज्ञानिक रॉबर्ट कोह को है, जिन्होंने जिलेटिन का प्रयोग रोगाणुओं के लिए एक ठोस परिवेश के रूप में किया।

मिट्टी के कण, पानी या स्राव की बूंदे एक पोषक परिवेश में डाली जाती हैं। उपयुक्त अवस्था में आने पर अलग-अलग कोशिकाएं विभाजित होना शुरू कर देती हैं। कुछ समय पश्चात परिवेश की सतह पर हजारों जीवाणुओं के समूह प्रकट हो जाते हैं, जो अशुद्धियों से मुक्त होते हैं।

जीवाणु-विज्ञान के व्यवहार में रॉबर्ट कोह ने एक और नयी विधि का प्रयोग किया। उन्होंने एनीलीन रंजकों द्वारा जीवाणुओं का रंजन भी आरम्भ किया। इस प्रकार के रंजन की बहुत अधिक आवश्यकता थी। रॉबर्ट कोह ने यह देखा कि रोगाणु—अपनी रासायनिक संरचना और भौतिक-रासायनिक गुणों के अनुसार—विभिन्न रंगों से रंजित हो जाते हैं। आगे चलकर अनेक वैज्ञानिकों ने रंजन की अन्य विधियां प्रस्तुत कीं : जैसे, सूक्ष्म जीवों का एक समूह सदा लाल रंग ग्रहण करता तथा दूसरा केवल नीला-बैंगनी, आदि।

अगला चरण था—गति की प्रकृति में भिन्नता। उदाहरण के लिए,

टायफाइड और पेचिश के रोगाणु हमेशा समान तरह के रंग में रंग जाते हैं और उनकी आकृति व आकार भी एक जैसे होते हैं। इसका अर्थ है कि बूंद में प्रकाश की उपस्थिति में उनकी गतिशीलता को निर्धारित करना आवश्यक है। टायफाइड के जीवाणु गतिशील होते हैं, जबकि पेचिश के स्थिर होते हैं।

रंजन की जटिल विधियों को प्रयुक्त करके सरलतम कोटि के रोगाणुओं में एक केन्द्रक और कोशिकाद्रव्य ढूंढ़ा जा सकता है। इस प्रकार, यदि केन्द्रक का रंग लाल हो और कोशिकाद्रव्य का नीला, तो इसका अर्थ है कि सूक्ष्मदर्शी के नीचे मलेरिया के रोगाणु हैं।

इन तथा इसी प्रकार की अन्य विधियों को प्रयुक्त करके 19-वीं शती के उत्तरार्ध में और 20-वीं शती के प्रथम 25 वर्षों में दसियों संक्रामक रोगों को उत्पन्न करने वाले रोगाणुओं की खोज हुई : दण्डाणु (बैसिलस), स्ट्रैप्टोकोकस, बैक्टीरिया और सर्पिलाणु (स्पाइरिलम), रीकेशिया, प्लाज्मोडियम, अमीबा...गोलाणु (कोकस), आदि। जीवाणु-जगत के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए मनुष्य को कम प्रयत्न नहीं करने पड़े। महत्वपूर्ण सफलताएं भी मिलीं। लेकिन फिर भी, यह नारा कि "बिना रोगाणुओं के संक्रामक रोग नहीं हो सकते"—पूर्णतया सत्य सिद्ध नहीं किया जा सका। सिद्ध नहीं किया जा सका—क्योंकि अनेक सफलताओं के साथ-साथ कई गंभीर पराजयें भी मिलीं। चेचक, पागलपन, फ्लू, शृंगी पशुओं व सुअर के पैरों तथा मुख पर रोग उत्पन्न करने वाले रोगाणुओं को अलग करने की जितनी भी चेष्टा की गयी, सफलता नहीं मिली। इस काम में न तो पुराने सफल प्रयोगों से कोई सहायता मिली और न ही नये शोधकार्यों से कोई लाभ हुआ। यहां तक कि बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोगों से भी सफलता नहीं मिली। अटकलबाजियों से इन रोगों की प्रकृति के बारे में परिकल्पनाओं का जन्म होता रहा। यह स्वाभाविक था कि रोगाणुओं का ज्ञान नहीं रहने पर, रोगों से संघर्ष नहीं किया जा सकता था; न ही सफलता की आशा हो सकती थी। यह एक अंधा
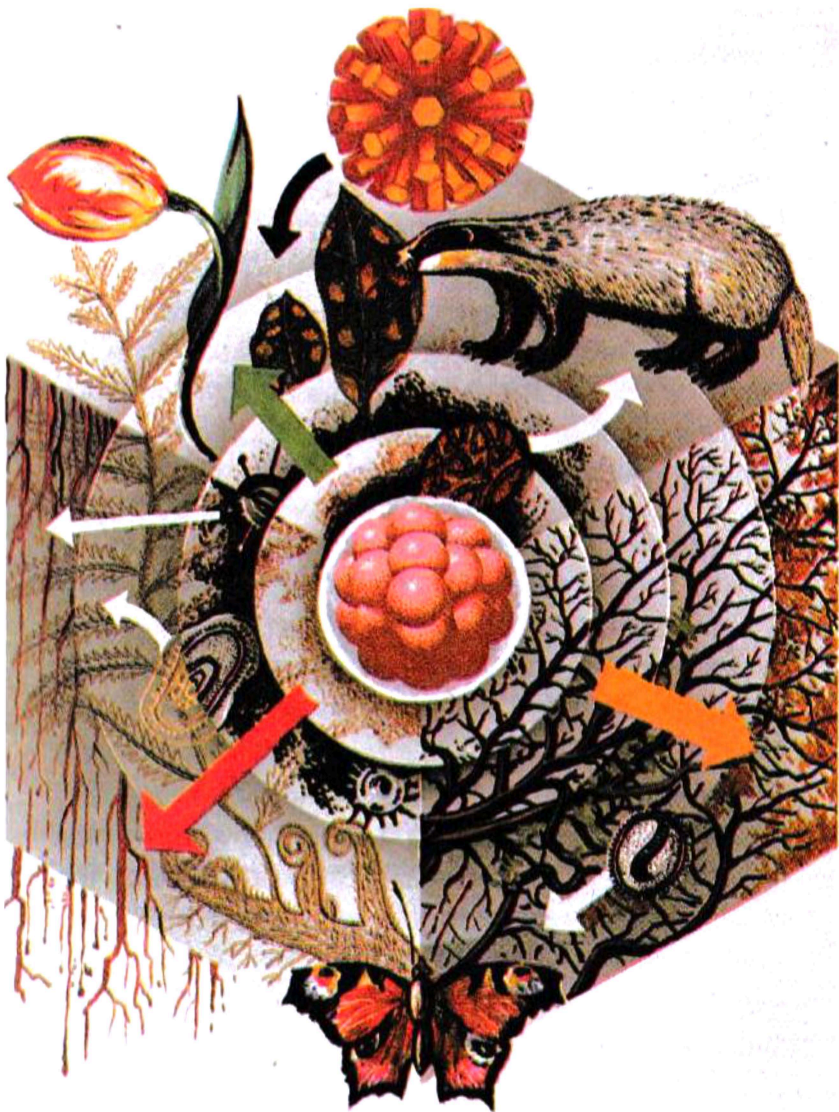
सूक्ष्मजीव वनस्पतियों तथा जंतुओं को रोगी बना देते हैं।

रास्ता था। इससे बाहर निकलने का केवल एक उपाय था—एक नयी खोज, ऐसी चीज की खोज जिसे वैज्ञानिक नहीं जानते थे, जिसका अंदाज भी नहीं लगा पाते थे।

और यह खोज हुई। यहां सबसे आशातीत बात यह हुई कि इन संक्रामक रोगों का उद्दीपक जीवाणु नहीं था। यह प्रकृति के एक अन्य जगत का प्रतिनिधि था। इसका अध्ययन विषाणु-विज्ञान करता है। अब आगे की कहानी इसी के बारे में होगी। पर इससे पहले कि हम विषाणुओं का अध्ययन आरम्भ करें, हम इस अध्याय की समाप्ति रोगाणुओं के लाभ की चर्चा से करेंगे, क्योंकि यह कहना उचित नहीं होगा कि रोगाणु केवल हानि ही पहुंचाते हैं। ये प्रकृति को कई लाभ पहुंचाते हैं, जिनसे मानव का भी हित होता है।

रोगाणुओं के बारे में प्रशंसा के शब्द. मनुष्य हजारों वर्षों से सूक्ष्मजीवों का प्रयोग खाद्य पदार्थ बनाने में करता आया है—कुमिस,* दही, छांछ, पनीर, रोटी, शराब, बियर, सिरका इत्यादि में, फ्लैक्स को भिगोने में (जब फ्लैक्स के कपड़े का उत्पादन करते हैं), सिलो बनाने (रखने) के समय (इनकी सहायता से हरे चारे की कोटि उच्च बनी रहती है)।

रोगाणुओं के विज्ञान के विकास के साथ-साथ वैज्ञानिकों को अनेक प्रक्रियाओं के कारण भी समझ में आने लगे। प्राप्त ज्ञान की सहायता से वैज्ञानिकों को इन प्रक्रियाओं को नियंत्रित करने में सफलता मिली, जिसकी पशुपालन में आवश्यकता थी। और, मनुष्य के लिए खाद्य-पदार्थों के औद्योगिक उत्पादन का स्तर ऊंचा किया जा सका। इसके अतिरिक्त, मनुष्य ने जीवाणुओं का प्रयोग करके जीवाणु उर्वरक, ऐन्टी-बायोटिक, विटामिन तथा वनस्पतियों की रक्षा के लिए प्रसाधन बनाये।

---

* कुमिस—घोड़ी का किण्वित दूध।

यह सोचना भी खतरनाक है कि यदि अचानक सब जीवाणु जमीन में द्रव्यचक्रों में भाग लेना बंद कर दें या अपने सक्रिय कार्यकलाप थोड़े मंद कर दें, तो क्या होगा। इतिहास के पैमाने के अनुसार, थोड़े से ही समय में हमारा संपूर्ण ग्रह जीव और वनस्पति-जगत के प्रतिनिधियों के अवशेषों के एक ढेर में परिवर्तित हो जायेगा। प्रकृति में वनस्पतियों के लिए आवश्यक पोषक पदार्थों का उत्पादन बन्द हो जायेगा। हरा चारा लुप्त हो जायेगा, तो पशु भी जी नहीं सकेंगे।

मिट्टी में जीने वाले सूक्ष्म पादपों का अध्ययन कृषि सूक्ष्मजीव-विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। इस विज्ञान में वनस्पतियों में रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं का अध्ययन किया जाता है और उनसे संघर्ष की विधियों को ढूंढ़ा जाता है। जो कीड़े-मकौड़े वनस्पति को हानि पहुंचाते हैं उनको नष्ट करने के सूक्ष्म जीव-विज्ञानी उपाय ढूंढ़े जाते हैं, चारे के संरक्षण तथा फसल को खराब होने से रोकने की विधियों का अध्ययन किया जाता है। रोगाणुओं का अध्ययन भूविज्ञान और धातु-विज्ञान के विशेषज्ञ करते हैं क्योंकि कुछ जीवाणु ऐसे होते हैं जो धातुओं को अयस्क से पृथक कर सकते हैं—जैसे, ताम्र, जरमेनियम, युरेनियम और टिन को। फिर, कुछ ऐसे जीवाणु होते हैं जो, इसके विपरीत, इस्पात को अपशिष्ट में परिणत कर देते हैं। जहां तक रोगकारी सूक्ष्म जीवाणुओं का संबंध है, वे भी कुछ हद तक लाभकारी सिद्ध होते हैं, क्योंकि इनसे ऐसे रोगों से रक्षा के लिए वैक्सीन बनायी जाती है जिनको वे ही उत्पन्न करते हैं।

निस्यंदी विष की विचित्र आदतें

दिमित्री इवानोव्स्की की खोज. 19-वीं शती के अंतिम चतुर्थांश में सूक्ष्मजीव-विज्ञान की उपलब्धियां अति महत्वपूर्ण थीं। वैज्ञानिकों की बहुत सारे रोगों पर विजय ने इस बात की आशा बंधायी कि निकटतम भविष्य में मानव महामारियों, जंतुमहामारियों तथा पादपमहामारियों से पूर्णत. मुक्त हो जायेगा।

सींगधारी बड़े जानवरों के प्लेग से जंतुमहामारी फैलने के कारण लाखों गायों की मृत्यु हो जाती थी, जिससे योरप में लोग महत्वपूर्ण पोषक-पदार्थों से वंचित रह जाते थे। इस रोग का रहस्य समझने की चेष्टा अनेक वैज्ञानिकों ने की। सन् 1886 ई. में एक युवा चिकित्सक एन. एफ. गामालेया ने, जो बाद में एक अद्वितीय रूसी वैज्ञानिक बने, प्लेग से पीड़ित एक बछड़े का रक्त लेकर उसे एक विशेष फिल्टर में डाला जो सूक्ष्मतम जीवाणुओं को भी रोक लेता था और फिर इस रक्त को उन्होंने एक स्वस्थ बछड़े में प्रविष्ट किया।

अधिकांश वैज्ञानिकों का मत था कि संक्रामक रोग बिना जीवाणुओं के नहीं हो सकते। उन्हें इस प्रकार का प्रयोग करने का विचार तक नहीं सूझा था। अगर फिल्टर इतना सूक्ष्म है कि वह किसी भी रोगाणु को रोक सकता है, तो बछड़ा प्लेग का शिकार होगा ही क्यों। सूक्ष्मदर्शी में भी कुछ नहीं दिखायी देता था (उन दिनों अभिवर्धन 2000 गुना होता था)। लेकिन एक अप्रत्याशित घटना घटी। कुछ दिनों पश्चात, प्रयोगाधीन बछड़ा प्लेग के प्रकारात्मक रूप से पीड़ित हो गया। ध्यान देना आवश्यक है कि अक्सर ऐसी ही घटनाएं, जिन्हें वैज्ञानिक अव-

धारणाओं में स्थान नहीं मिलता, विज्ञान को एक नयी दिशा दिखाती हैं। यह सत्य है कि एन. एफ. गामालेया ने अन्त तक रोगाणुओं की प्रकृति का उद्‌घाटन नहीं किया, परन्तु उनके प्रयोग ने अन्य शोधकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया।
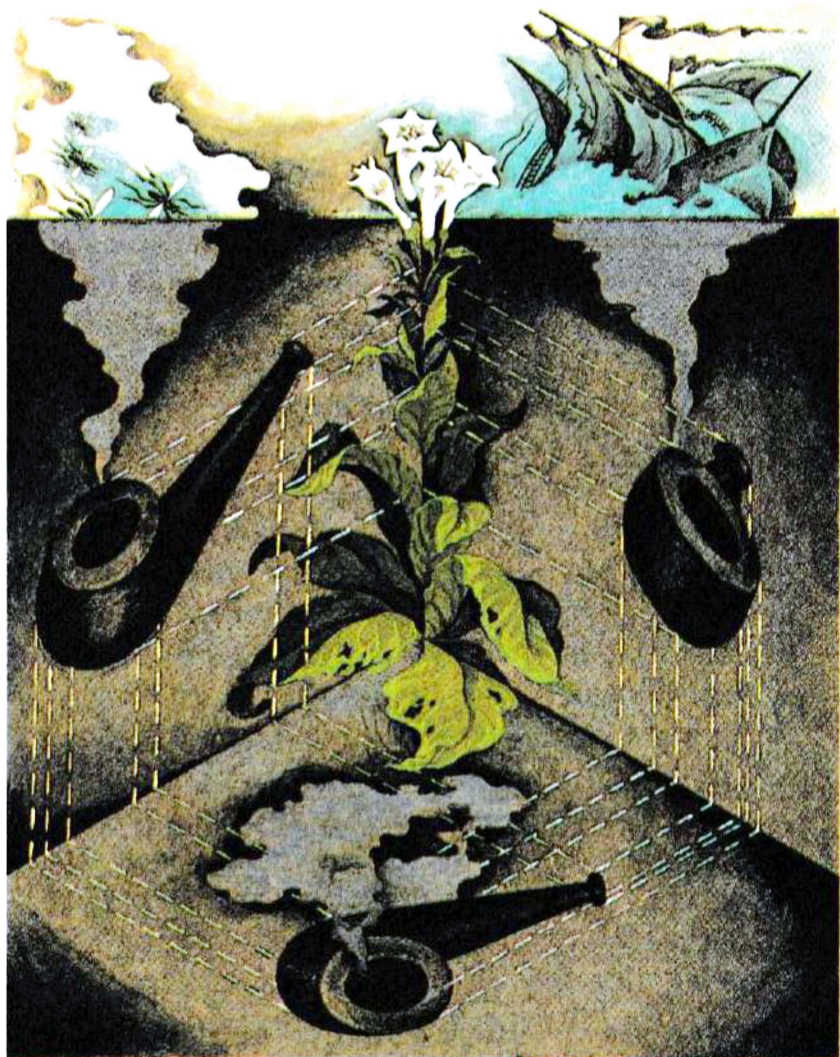
छः वर्ष बाद 1892 में एक अन्य रूसी वैज्ञानिक दिमित्री इवानोव्स्की ने इस अदृश्य रोगाणु के "प्रकारात्मक लक्षणों" को निर्धारित किया, जिसको आगे चलकर विषाणु नाम दिया गया। इवानोव्स्की द्वारा वर्णित विषाणु की आदतें उसे बिल्कुल नये जगत का प्रतिनिधि बतलाती थीं। मानव द्वारा खोजे गये प्रथम विषाणु का नाम पहली नजर में विचित्र-सा लगता है—तम्बाकू किर्मीर विषाणु।

सन् 1887 ई. में पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के एक छात्र इवानोव्स्की को क्रीमिया व मोल्दाविया के क्षेत्रों में तम्बाकू के रोगों का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। वहां तम्बाकू की कोमल हरी पत्तियों पर धब्बे व छल्ले जैसे दाग प्रकट हो जाते थे। आरम्भ में ये छोटे-छोटे और हल्के रंग के होते थे और मुश्किल से दिखायी देते थे। लेकिन ये शीघ्र ही फैलने लगते थे; इनका रंग पीला और फिर भूरा होने लगता था। तम्बाकू के पत्तों में मरोड़ आ जाती थी, वे मुरझा जाते थे। इस रोग का शिकार पूरे के पूरे खेत हो जाते थे। वहां की अनुकूल जलवायु और फसल की अच्छी देखभाल भी पौधों की रक्षा करने में समर्थ नहीं होती थी। इस रोग की तुलना प्लेग, हैजा और अन्य महामारियों से की जा सकती थी। इसलिए इवानोव्स्की तथा अधिक अनुभव वाले उनके अध्यापकों के विचार से तम्बाकू के रोग की जीवाणु-प्रकृति को ढूंढ़ना कोई कठिन कार्य नहीं होना चाहिए था। इसके लिए केवल प्रसाधन बनाना, उसे रंजित करना और फिर सूक्ष्मदर्शी से उसका अध्ययन करना पर्याप्त होना चाहिए था। ठीक इसी प्रकार से कई अन्य रोगों के उद्दीपकों की खोज हुई थी।

इस युवा वैज्ञानिक (इवानोव्स्की) ने बहुत अधिक श्रम के साथ

दिमित्री इवानोव्स्की ।

रोगाणुओं को ढूंढ़ने की सभी संभव विधियां को प्रयुक्त किया और रोग-ग्रस्त पौधे के रस का घंटों सूक्ष्मदर्शी से अध्ययन किया । लेकिन फिर भी वह रोगाणु को नहीं देख पाया । इस असफलता मे वैज्ञानिक अक्सर सोचता था कि शायद यह रोगाणु कभी था ही नहीं । पर इसके साथ-साथ वह यह भी सोचता था कि यदि ऐसा कोई रोगाणु था ही नहीं, तो सिरिंज की सहायता से स्वस्थ पौधे में रोगग्रस्त पौधे का रस डालने से वह भी क्यों पीड़ित हो जाता है ? युवा शोधकर्ता ने एक कृत्रिम पोषक परिवेश में रोगाणु पालने और प्रजनित करने का प्रयास किया । इससे पहले अनेक वैज्ञानिक रोगाणुओं को किसी भी संख्या में आरोपित और प्रजनित करने में सफल हो चुके थे । पर इवानोव्स्की के ये प्रयोग भी असफल रहे । यदि और सही कहें तो परिणाम नकारात्मक थे, रोगाणु पनपते नहीं थे । यह सच है कि विज्ञान में अक्सर नकारात्मक

परिणाम भी कम महत्व नहीं रखते। केवल उन्हें सही प्रकार से आंकना चाहिए। असफलता से इवानोव्स्की का साहस नहीं टूटा। उन्होंने एक नया प्रयोग किया : रोगग्रस्त पौधे की पत्तियों का रस एक फिल्टर में से गुजारा, जिसके छिद्रों का आकार किसी भी रोगाणु के आकार से कम था। फिर उन्होंने इस शुद्ध पारदर्शी रस को एक स्वस्थ पौधे में निविष्ट कराया। कुछ दिन बीतने के पश्चात अचानक पौधे की पत्तियों पर उसी किर्मीर के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इसका मतलब यह कि यहां जीवाणु कसूरवार नहीं हैं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि फिल्टर किये गये रस में कोई विष था—कोई रासायनिक यौगिक था, जिससे पौधे रोगग्रस्त हो गये थे। अब यह स्पष्ट हो गया कि पोषक परिवेश में उनका प्रजनन क्यों नहीं होता था।

रोग के रोगाणु की रासायनिक प्रकृति स्पष्ट होने पर भी इवानोव्स्की नये प्रयोगों का एक क्रम शुरू करते हैं। वह स्वस्थ पौधे को रोगग्रस्त करने का निश्चय करते हैं। एक स्वस्थ पौधे में वह एक रोगग्रस्त पौधे के रस को निविष्ट कराते हैं। यह स्वस्थ पौधा जब रोगग्रस्त हो जाता है, तो इस रोगग्रस्त पौधे के रस को वह एक अन्य स्वस्थ पौधे मे पहुंचाते हैं। यह स्वाभाविक है कि इस प्रकार कई बार रोगग्रस्त कराने की क्रिया में विष का सान्द्रण कम होता जायेगा और कभी न कभी इसका प्रभाव एकदम समाप्त हो जायेगा। इवानोव्स्की अथक रूप से एक के बाद एक प्रयोग करते चले जाते हैं और देखते हैं कि पत्तियों की सतह से बेढंगे धब्बे गायब नहीं हो रहे हैं। यहां वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रोगाणु, जो तम्बाकू को रोगग्रस्त कर देता है, सजीव है तथा वह केवल सजीव पौधे में ही प्रजनित होता है। परन्तु वह इतना सूक्ष्म होता है कि जीवाणु फिल्टरों में से गुजर जाता है। इस प्रकार इवानोव्स्की के विश्वस्त और बारीक प्रयोगों के फलस्वरूप एक बिल्कुल नये प्रकार का रोगकारी जीवाणु सामने आता है जिसके गुण पहले ज्ञात नहीं थे। निस्यंदित होने वाले विषाणु (यही नाम इस नये रोगाणु

को दिया गया) ने अनेक शोधकर्ताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया, हालांकि सभी वैज्ञानिकों ने इसे तुरंत मान्यता नहीं दी।

अदृश्य राज्य के प्रतिनिधि हर स्थान पर हैं. सन् 1897 ई. में इवानोव्स्की की खोज के 5 वर्ष पश्चात् जर्मन वैज्ञानिकों एफ. लेफ्लेर तथा ए. फ्रोश ने सिद्ध किया कि बड़े सींगदार जानवरों के खुर के रोग—खुर-व्रण —का कारण भी विषाणु हैं। इन खोजों के शीघ्र बाद ही भेड़ों की चेचक, पक्षियों के प्लेग, कुत्तों के पागलपन व प्लेग के विषाणुओं का वर्णन किया गया। सन् 1917 में डे-हेरेल ने एक और जीवाणुभोजी, अर्थात् जीवाणुओं के विषाणु की खोज की। धीरे-धीरे वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अभी हाल में ही ज्ञात हुए जगत के प्रतिनिधि, विभिन्न जीवों की कोशिकाओं में परजीवी की भूमिका निभा सकते हैं। प्रथम दशकों के दौरान विषाणु-विज्ञान के क्षेत्र में प्राप्त की गयी सफलताओं का यह संख्यात्मक एकत्रीकरण था। इन विषाणुओं के गुणों के अध्ययन के परिणाम अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थे। वैज्ञानिक विषाणुओं के रहस्य जानने और उनसे परिचित होने के लिए प्रयत्न-शील थे। इसके लिए सर्वाधिक नये उपकरणों को उपयोग में लाया गया तथा नये-नये बुद्धिसंगत प्रयोग किये गये। लेकिन और किया भी क्या जा सकता था—यदि विचाराधीन पदार्थ अदृश्य है, यदि उसके प्रजनन के लिए केवल सजीव कोशिकीय जीव चाहिए और यदि प्रत्येक नये प्रेक्षण के साथ नये जटिल प्रश्न उत्पन्न हो जाते थे। उदाहरणतया, इवानोव्स्की द्वारा खोजा गया निम्न रहस्य ही कितना गम्भीर था : विषाणु एक सजीव प्रजननशील अस्तित्व है, जो एक साधारण अकार्बनिक पदार्थ की भांति वास्तविक क्रिस्टल बना सकता है। इसकी उसे क्या आवश्यकता है? एक क्रिस्टल के रूप में वह किस प्रकार जीवित रह सकता है? या फिर, उदाहरणतया, देखिए यह विचित्र चयनशीलता और नपी-तुली विशेषज्ञ परायणता—कुछ ऐसे विषाणु हैं, जो केवल

मनुष्य व जन्तुओं में रोग उत्पन्न करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो केवल वनस्पतियों पर हमला करते हैं; चेचक के विषाणु केवल चेचक उत्पन्न करते हैं, फ्लू नहीं। इस प्रकार के प्रश्न तो बहुत थे, पर उत्तर बहुत कम थे।

"क्या" है या "कौन" है ? के. लिन्ने द्वारा आरंभ किये गये सजीव प्रकृति के वर्गीकरण को अन्य वैज्ञानिकों ने जारी रखा। आज प्राणियों के विकास, उनकी उत्पत्ति और पारस्परिक सम्बन्ध, उनकी समानताओं और असमानताओं के बारे में सही बोध प्राप्त हो चुका है। सभी प्राणियों के बारे में—लेकिन विषाणुओं को छोड़कर। इस पृथ्वी पर सभी प्राणियों को दो जगतों में बांटा गया है : वनस्पति-जगत तथा जीव-जगत।

पता चला कि सजीव प्रकृति में विषाणुओं के लिए स्थान ढूंढना कोई सरल कार्य नहीं है। लातीनी शब्द वीस्स का अर्थ है विष (विषाणु को लातीनी नाम विष दिया गया है)। यह पारिभाषिक शब्द भी इसको प्राणियों से अलग करता है। परन्तु यहां बात नाम की नहीं है।

सजीव और निर्जीव में हर आदमी भेद कर सकता है। सजीव श्वास लेता है, अपना पोषण करता है, विकसित तथा प्रजनित होता है, इत्यादि। फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा प्रस्तुत जीवन की शास्त्रीय वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार, "जीवन प्रोटीन पिण्डों की विद्यमानता की प्रणाली है जिसका महत्वपूर्ण क्षण उसके चारों ओर स्थित बाह्य प्रकृति के साथ द्रव्य का निरंतर विनिमय है"। पिछले कुछ समय से जीवन का महत्वपूर्ण तत्त्व प्रोटीन के अलावा न्यूक्लीक अम्ल की विद्यमानता माना जाता है जो आनुवंशिक सूचना के संरक्षण तथा माता-पिता से संतान तक उसके संप्रेषण के लिए सबसे अधिक महत्व रखता है।

प्रथम दृष्टि में विषाणु सजीव लगते हैं। इनमें प्रोटीन और न्यूक्लीक अम्ल उपस्थित होते हैं, ये अपने ही जैसे अन्य विषाणु उत्पन्न करते हैं और परिवर्तित भी होते हैं। लेकिन अभी तक जीव का मुख्य लक्षण

द्रव्य विनिमय इनमें सिद्ध नहीं हो पाया है। और हां विषाणुओं का प्रजनन भी एक विचित्र प्रकार से होता है (जिसके बारे में आगे पढ़ेंगे)। क्रिस्टल बनाने तथा निर्जीव प्रकृति के लिए लाक्षणिक पदार्थ के रूप में सुरक्षित रहने की विशेषता के कारण, हम विषाणुओं को सप्राण प्रकृति का अंग नहीं मान सकते। प्रमुख सोवियत विषाणु-वैज्ञानिक एन. एम. ज्दानोव ने विषाणुओं को जीव-जगत और वनस्पति-जगत से निकाल कर सजीव प्रकृति के एक नये तीसरे जगत में रख दिया—विषाणु-जगत।

प्राचीन रोम के भगवान यानुस की भांति, जिनका स्वरूप ऐसे दो मुखों से बना है जो दो भिन्न दिशाओं की ओर हैं, विषाणु में भी अपने अन्दर सजीव और निर्जीव प्रकृति के गुणों के द्वैत की विचित्रता है। परन्तु फिर भी, विषाणुओं के अधिकांश गुण सजीव प्रकृति के गुणों से मिलते हैं।

सूक्ष्मतम को किस प्रकार देखा जा सकता है? भौतिक प्राकृतिक पदार्थों की विद्यमानता के ज्ञान के लिए मनुष्य ने मुख्यतः अपनी दृष्टि और अन्य ज्ञानेंद्रियों की सहायता ली। आपको याद होगा कि जीवाणु की उपस्थिति भी सर्वप्रथम सूक्ष्मदर्शी की सहायता से अनुभव की गयी। प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शियों को और श्रेष्ठ बनाया जाता रहा। प्रकाशीय उपकरण के निर्माताओं की नयी-नयी सफलताओं के फलस्वरूप विषाणु-विशेषज्ञों को अपने शोधकार्य की वस्तु को देख पाने की संभावना की आशा बंधती गयी। लेकिन, प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी की अभिवर्धन सीमा के कारण वैज्ञानिक अपने शत्रु के चेहरे को नहीं देख पाये। विज्ञान के लिए विरोधाभासपूर्ण यह संवृति लगभग 50 वर्ष तक जारी रही। विषाणुओं का अध्ययन चलता रहा; उनके गुण और उनके घातक कार्यों के परिणाम ज्ञात थे, पर उनकी आकृति और संरचना के बारे में विश्वस्त सूचना प्राप्त नहीं की जा सकी थी।

विज्ञान और प्रविधि की महान सफलताओं में इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्मदर्शी की गणना होनी चाहिए—यह वह अद्भुत यन्त्र है जो विचाराधीन वस्तु का अभिवर्धन 10 लाख गुना करता है। इस सूक्ष्मदर्शी में प्रकाश किरणों के स्थान पर इलेक्ट्रॉनिक पुंजों को प्रयुक्त किया जाता है। इलेक्ट्रॉन कैथोड द्वारा उत्सर्जित होते हैं और कोशिका के विभवान्तर—कैथोड व ऐनोड के बीच करीब दसियों हजार वोल्ट वाले विद्युत क्षेत्र से त्वरित होते हैं। सूक्ष्मदर्शी बक्से के अन्दर इलेक्ट्रॉनों के पुंज की गति बहुत अधिक होती है; इस बक्से में से वायु का निष्कासन कर दिया जाता है। विचाराधीन वस्तु (धातु का कण, वनस्पति की कोशिका, या विषाणु) में प्रवेश करते समय इलेक्ट्रॉन प्रकीर्णित होते हैं और अपने प्रारम्भिक गति-पथ से विचलित हो जाते हैं। इनकी गति लेन्स की ओर होती है जहां एक दृश्य-बिंब बन जाता है। इस प्रतिबिंब को प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी के लेन्सों की
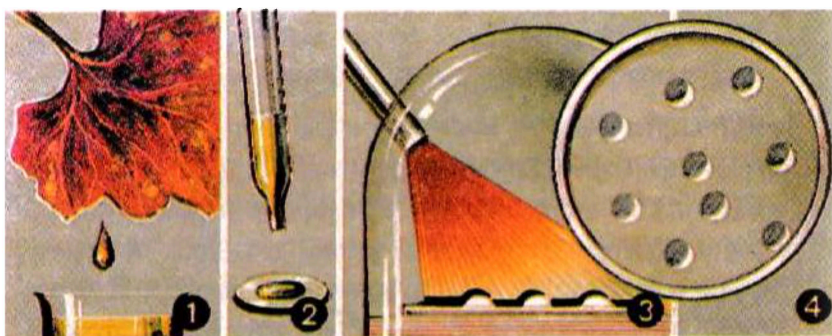
छाया वाली विधि : रोगी वनस्पति का रस अथवा रोगी जीव के ऊतकों से प्राप्त द्रव की बूंद जल या जीवविज्ञानी विलय में मिला दी जाती है, प्राप्त विलयन की बूंद झिल्ली पर डालते हैं, शुष्क प्रतिदर्श को निर्वात में रखकर उसके ऊपर भारी धातु (स्वर्ण, प्लैटिनम, आदि) के अतिसूक्ष्म कण बिखेरे जाते हैं; विषाणु जिस स्थान पर धातु-कणों के झुंड को इकट्ठा कर लेता है, इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्मदर्शी में उस जगह पर "छाया" दिखायी देती है (विषाणु के ऊपर तथा तले पर परतों की मोटाई अलग-अलग होती है)।

सहायता से अभिवर्धित कर दिया जाता है (प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्मदर्शी के अन्दर ही स्थित होता है)। अन्त में, किरणें एक पर्दे पर आकर टकराती हैं और फोटो-फिल्म पर एक बिम्ब बन जाता है।

आवरण पर क्या देख सकते हैं? विचाराधीन वस्तु के विभिन्न भागों से इलेक्ट्रॉनों का प्रकीर्णन अलग-अलग प्रकार से होता है। वस्तु के विभिन्न भागों को परस्पर पृथक करने के लिए तथा स्वयं वस्तु को उसकी पृष्ठभूमि से पृथक करने के लिए आवश्यक है कि एक विपर्यास चित्र प्राप्त हो। पड़ोसी भाग परमाण्वीय संख्या के अनुसार आपस में जितने भिन्न होंगे, उनके बीच विपर्यास उतना ही अधिक होगा और उनका अध्ययन उतना ही सरल हो जायेगा। अच्छा चित्र प्राप्त करने की एक और शर्त है—प्रकाशमय परत की मोटाई एक निश्चित क्रांतिक मोटाई से कम नहीं होनी चाहिए। उन तत्त्वों की परमाण्वीय संख्या जिनसे विचाराधीन वस्तु बनी है, जितनी अधिक होगी, वस्तु की मोटाई उतनी ही कम होगी। जीवविज्ञानिक अध्ययन की वस्तु और विषाणु भी ऐसे पदार्थों (तत्त्वों) से बने होते हैं, जिनकी परमाण्वीय संख्या कम होती है: हाइड्रोजन, कार्बन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, फास्फोरस, आदि। इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वाधिक शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी से 500 Å या 50 mμ (milimicron) से कम मोटाई वाले पदार्थ को देखना लगभग असम्भव है। लम्बाई की इकाई एक एंगस्ट्रम 1 Å $= 10^{-10}$ m $= 10^{-8}$ cm होती है।

विषाणु का प्रथम दर्शन. विषाणुओं का आकार स्पष्ट रूप से देखने के लिए (कभी-कभी इनका आकार 10 mμ से भी कम होता है) विषाणु-विशेषज्ञों को बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा। स्वयं उपकरण, इस समस्या का हल नहीं थे। इस काम में विपर्यास की विधियों से काफी सहायता मिली: भारी धातुओं द्वारा छायाकरण, भारी धातुओं के लवणों द्वारा वरित रंजन, आदि।

इन विधियों के नाम से ही स्पष्ट है कि हम यहां विचाराधीन जीव-विज्ञानिक वस्तुओं की भारी धातुओं तथा कार्बन के परमाणुओं व अणुओं के साथ पारस्परिक प्रतिक्रिया की चर्चा कर रहे हैं। अतः, विषाणुओं के छायाकरण के समय प्रसाधन के ऊपर प्लैटिनम, स्वर्ण, टंग्स्टन, क्रोमियम की एक पतली परत बिछायी जाती है। पॉजिटिव विपर्यास विधि इस बात पर आधारित है कि भारी धातुओं के लवण विभिन्न जीवविज्ञानिक वस्तुओं के साथ अलग-अलग प्रकार से क्रिया करते हैं। सीसे के लवण कोशिका और तंतुओं के प्रोटीन घटकों के साथ संयुक्त हो जाते हैं, ऑस्मियम के लिबिड पदार्थों के साथ, आदि। इस प्रकार के रंजन के फलस्वरूप संरचनाएं एक विशेष विपर्यास प्राप्त करती हैं।

निगेटिव विपर्यास-विधि का अन्य आधार है। विपर्यास करने के लिए इसी प्रकार भारी धातुओं के लवणों वाले पदार्थों का चयन किया जाता है, लेकिन ये पदार्थ विचाराधीन जीवविज्ञानिक अध्ययन-वस्तु के साथ अभिक्रिया नहीं करते हैं। उच्च घनत्व वाले विपर्यासी पदार्थ की एक परत को विषाणु के नीचे रख दिया जाता है। इसके बाद विषाणु को सूक्ष्मदर्शी की सहायता से एक घनी काली पृष्ठभूमि पर देखा जा सकता है।

किसी भी प्रकार से तैयार किये गये विषाणु के प्रसाधन अन्त में इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्मदर्शी में आ जाते हैं। यहां हम विषाणुओं के आकार को माप सकते हैं। अब यह कार्य अपेक्षाकृत सरल है; केवल अभिवर्धन का परिमाप ध्यानपूर्वक करना चाहिए।

यहां हम विषाणु के कणों का आकार नापेंगे नहीं, केवल भली-भांति ज्ञात पदार्थों के साथ उनकी तुलना करेंगे, जिन्हें प्रसिद्ध अमरीकी विषाणु-वैज्ञानिक और जीव-रसायनज्ञ डब्लू. एम. स्टेनली की पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है: "यद्यपि विषाणु का कण रासायनिक अणुओं के बीच बहुत विशाल आकार वाला है, फिर भी यदि इन कणों से पिंग-

नलियों में विषाणु-सामग्री का पालने और इसको क्षीण करने की विधि।
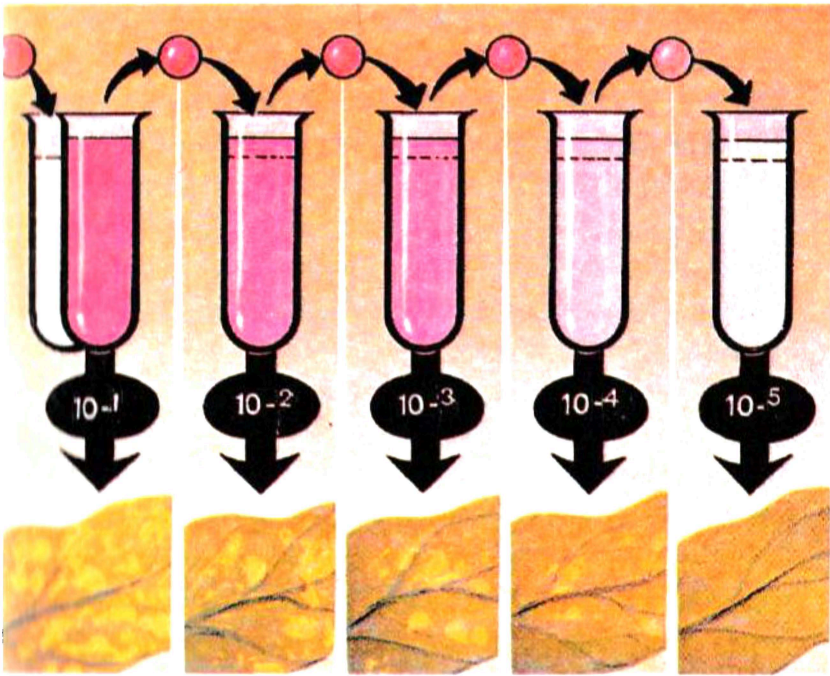
गाग की गेंद को भरना चाहें तो हमें पोलियो-मेरुरज्जु-शोथ (polio-myelitis) के 10^{18} विषाणुओं की आवश्यकता होगी"।

मानव की कोशिका—जिसके अन्दर विषाणु प्रवेश करते हैं और नष्ट कर देते हैं—इस बिना बुलाये मेहमान के घर जैसी लगती है। और, वह भी कोई छोटा घर नहीं! उदाहरण के लिए, पोलियो-मेरुरज्जु-शोथ का विषाणु एक कोशिका की तुलना में उतना ही छोटा है, जितना एक मनुष्य तीस मंजिली इमारत की तुलना में।

अनुमापन : विषाणु-विज्ञान के व्यवहार में विषाणुओं की सक्रियता का काफी महत्व है। उदाहरण के लिए, तम्बाकू किर्मीर विषाणु का अध्ययन करने के लिए रोगग्रस्त पौधे की पत्तियों को निचोड़ कर उनका रस निकाल लिया जाता है। इस रस में (इसे हम मातृ-रस कहेंगे) नष्ट हुई कोशिकाओं के कणों के साथ-साथ विषाणु भी तैरते रहते हैं।

यदि हम इस रस को (या रोगग्रस्त जीव के ऊतक के अर्क को) चूहे के शरीर में, या मुर्गी के भ्रूण में, या एक निश्चित वनस्पति-सूचक की कोशिका में डाल दें, तो कुछ समय के पश्चात रोग के लक्षण प्रकट हो जायेंगे।

रस या अर्क के अनुमापन में उसे आसवित जल या बूफेर (स्थिर अम्लता वाले) विलयन में विलीन किया जाता है और इस प्रकार प्रत्येक बार मातृ-रस का सान्द्रण क्षीण होता जाता है (और इसके परिणामस्वरूप विषाणुओं का सान्द्रण दस गुना, सौ गुना, हजार गुना कम होता जाता है)। इन क्षीण विलयनों को पृथक-पृथक सूचकों (वनस्पति, भ्रूण, आदि) में डाला जाता है। सूचकों की कोशिकाओं मे हजारों या कुछ गिने-चुने विषाणु प्रवेश करते हैं (यह इस बात पर निर्भर करता है कि विलयन कितना क्षीण है)। फिर वे संहार-कार्य आरम्भ कर देते हैं। विषाणु हालांकि हमें दिखायी नहीं देते हैं, पर उनके कार्यों के परिणाम शीघ्र ही दिखायी देने लगते हैं।

विषाणुओं की सक्रियता जितनी अधिक होगी, सांद्रता जितनी ऊंची होगी, रोगग्रस्त कोशिकाएं भी उतनी ही अधिक संख्या में और उतनी ही जल्दी दिखेंगी। क्षतिग्रस्त स्थलों (धब्बों) की संख्या गिन सकते है, उनका क्षेत्रफल व उनके प्रकट होने का समय नाप सकते हैं, और इसीलिए उनके वेग और घनत्व का कलन कर सकते हैं। इस प्रकार परीक्षण के परिणामों के मात्रात्मक संसाधन की संभावना उत्पन्न होती है, जिसके बिना किसी भी प्रकृतिवेत्ता का काम नहीं चल सकता।

शुद्धिकरण की समस्या. यदि अनुमापन के समय प्रसाधनों में

कोशिकाओं के टुकड़े आ भी जाते हैं, तो कोई नुकसान नहीं होता; पर वे अन्य शोधकार्यों में विघ्न उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए, कोशिकीय घटकों को, जो अपनी आकृति और परिमाप के अनुसार विचाराधीन विषाणुओं के साथ समानता रखते हैं, इलेक्ट्रॉनी सूक्ष्मदर्शी अध्ययन के समय पृथक करना कठिन हो जाता है।

विषाणु प्रसाधन को शुद्ध करना भूसे के ढेर में सुई ढूंढ़ने के कार्य से भी कठिन है। सुई को कम से कम देखा तो जा सकता है और उसके भौतिकीय गुण भूसे के गुणों से बहुत पृथक होते हैं (और इसी कारण हम लोहे की सुई को एक चुम्बक की सहायता से अलग कर सकते हैं)। विषाणु अदृश्य होता है और उसके अनेक भौतिकीय गुण उसी प्रकार के होते हैं जैसे कि अन्य जैविक कणों के, जिनके साथ वह विलयन में तैर रहा होता है।

इस प्रकार की समस्या हल करने के लिए हमें भौतिक-शास्त्र व रसायन-शास्त्र का अच्छा ज्ञान होना चाहिए तथा शोधकार्य की सभी विधियों से भली-भांति परिचित होना चाहिए। साथ ही, हमें कुशाग्र बुद्धि भी होना चाहिए।

विषाणुओं के पृथक्करण की सर्वाधिक प्रचलित विधि द्रव्यमानों के अन्तर और विलयनों, जिनमें विषाणु तैर रहे होते हैं, के विभिन्न घटकों के आकारों के अन्तर पर आधारित है। और, इस विधि का नाम है : **विभेदक अपकेन्द्रण**। जिन विषाणुओं पर स्पिरिट का प्रभाव नहीं पड़ता हो, उनको स्पिरिट की सहायता से संकेन्द्रित किया जा सकता है।

ज्ञात है कि फ्लू का विषाणु रक्त की लाल कोशिकाओं का थक्का बनाने की विशेषता रखता है। हम इस विशेषता को प्रारंभिक शुद्धि-करण के लिए प्रयुक्त करते हैं। **जेल-फिल्टरन** विधि का आधार घटकों के आकार का अन्तर है, तथा क्रोमेटोग्राफी की विधि रासायनिक गुणों में अन्तर पर आधारित है।

सन् 1935 में सर्वप्रथम परिशुद्ध विषाणु प्रसाधन तैयार किया गया

था। डब्लू. एम. स्टेनली ने तम्बाकू किर्मीर विषाणु को परिशुद्ध करके क्रिस्टलीय रूप में पृथक किया। पहली विधि प्रोटीनों के रसायन से ली गयी थी और इसका आधार यह तथ्य था कि विलयनों की अम्लीयता की डिग्री के परिवर्तित होने पर भिन्न प्रोटीन पिंडों की विलयता भिन्न प्रकार से परिवर्तित होती है। पृथक्करण इस प्रकार आरम्भ किया जाता है कि शुरू में तम्बाकू के पौधों की पत्तियों को कई घंटे तक ठंड में जमाया जाता है और इसके बाद इनको कूटा जाता है। इस कूटे हुए पदार्थ को फास्फोरिक अम्ल और उसके लवणों के बूफ़ेर (स्थिर अम्लीयता वाले) विलयन में विलीन कर दिया जाता है। इसको भली प्रकार से मिश्रित करने के पश्चात मिश्रण को पहले बारीक कपड़े द्वारा छान लिया जाता है और इसके बाद इसे डायटमी मृत्तिका द्वारा छाना जाता है। फिल्ट्रेट में अमोनियम सल्फेट का विलयन डाला जाता है जिसके प्रभाव से विषाणु का अवसादन हो जाता है। अगले फिल्टरन के समय विषाणु का अधिशोषण एक विशेष अधिशोषक—डायटमी मृत्तिका—द्वारा होता है, जिसको एक बार फिर फास्फेट के बूफ़ेर विलयन से धो दिया जाता है। अब विषाणु विलयन में आ जाता है। विषाणु का अवसादन तथा विलयन कई बार मिलाया जाता है जिससे उसकी सान्द्रता बढ़ जाती है। अन्तिम प्रक्रिया में, फिल्ट्रेट में अमोनियम सल्फेट और शीतित ऐसिटिक अम्ल के संतृप्त विलयन में डाल दिया जाता है। अब विषाणु सूक्ष्मदर्शी सुईनुमा पराक्रिस्टल (द्रव क्रिस्टल) के रूप में पृथक हो जाते हैं। दुर्भाग्यवश रोग उत्पन्न करने वाले प्रत्येक रोगाणु को अलग करने के लिए विशेष विधि अपनानी पड़ती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शुद्धिकरण की पृथक विधि की खोज कई वर्षों तक चलती रहती है। उदाहरण के लिए, पोलियो-मेरुरज्जु-शोथ (पोलियोमायेलिटिस) के विषाणु को स्वयं डब्लू. एम. स्टेनली बीस वर्ष के प्रयोगों के फलस्वरूप सन् 1955 में पृथक कर पाये।

शुद्धिकरण की कुछ अन्य विधियां कोलाइडी विन्यासों के एक

निश्चित अवस्था में नष्ट होने के गुण पर आधारित हैं; उदाहरणतया— जब वैद्युत अपघटन द्वारा स्थायीकृत विलयन में ऋणात्मक कणों की संख्या धनात्मक कणों की संख्या के बराबर हो जाती है (तथाकथित आइसोवैद्युत बिन्दुओं पर)।

कुछ विषाणुओं को, जो जन्तुओं और मानव में रोग उत्पन्न करते हैं, पृथक करने के लिए एक अन्य विधि प्रयुक्त की जाती है। इसमें उनका अमोनियम हाइड्रेट या कैल्सियम सल्फेट के कोलाइडी अवसादों द्वारा अधिशोषण किया जाता है। इस विधि द्वारा पोलियोमायेलिटिस के विषाणुओं को पृथक किया जाता है।

विषाणु विशेषज्ञों को गुरुत्वाकर्षण का लाभ. मानव को सबसे अधिक आकर्षित करने वाला प्रकृति का रहस्य गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र है। गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र का ज्ञान और उस पर प्राप्त विजय से हमें यह आशा बंधती है कि हम एक नये ऊर्जा स्रोत को ढूंढ़ निकालेंगे, बिना पंख के शोरमुक्त गुरुत्व उड़ानें भरेंगे तथा अन्य कई कल्पित काम पूरे कर पायेंगे। लेकिन रहस्यमय गुरुत्वीय बल विषाणु विशेषज्ञों की सहायता अभी ही कर रहे हैं।

सभी जानते हैं कि अपकेन्द्रक का कितना महत्व है। यह ऐसा यंत्र है जिसकी सहायता से अतिरिक्त गुरुत्वीय बल बनता है, जिसका उपयोग अंतरिक्ष-यात्रियों के प्रशिक्षण के समय किया जाता है। लेकिन बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि इस प्रकार के उपकरणों को जीव-विज्ञान में भी प्रयुक्त किया जाता है।

एक आधुनिक अतिअपकेन्द्रक के रोटर की गति 35 हजार चक्कर प्रति मिनट होती है। रोटर के कक्षकों में प्रसाधन के नमूने परख-नली में रखे जाते हैं। साथ ही रोटर में लगभग अन्तरिक्षीय निर्वात बनाया जा सकता है, जहां स्वचलित विधि से निश्चित तापक्रम स्थिर रखा जा

सकता है। एक कोपेक* का सिक्का पृथ्वी की सामान्य परिस्थितियों में 1 ग्राम भार रखता है, अपकेन्द्रक में इसका भार 100 किलोग्राम से अधिक हो सकता है और विषाणु का भार एक माइक्रोग्राम के दस हजार भाग के बराबर हो सकता है। इसके साथ-साथ कोशिकाओं के टुकड़ों व अन्य कणों का भार भी बढ़ जाता है। इस कारण पदार्थों का पृथक्करण आरम्भ हो जाता है। अधिक भारी पदार्थ या कण तल पर बैठ जाते हैं और हल्के पदार्थ परख-नली में ऊपर रहते हैं। इस प्रकार के पृथक्करण के पश्चात प्रत्येक सतह में, और साथ ही विषाणु वाली परत में, पदार्थों का घनत्व सरलता से निर्धारित किया जा सकता है।

अवसादन-विधि की सहायता से हम विषाणु-कणों का द्रव्यमान, और अगर वे गोल हैं तो उनका आकार, निश्चित कर सकते हैं। इस विधि का सार यह है कि पराअपकेन्द्रण में विषाणु-कणों के अवसादन की गति उनके आकार, घनत्व, परिवेश की श्यानता पर और अपकेन्द्री बल पर एक निश्चित रूप में निर्भर करती है।

विषाणु-कणों के आकार में काफी बड़ी भिन्नता होती है। अंछर (खुर के रोग के) विषाणु-कणों का आकार 210 Å होता है और सीटा-कोजा विषाणु का—4550 Å। इनमें से प्रथम, प्रोटीन-कणों के आकार के बराबर है, जैसे हेमोग्लोबिन; और दूसरा, प्लूरोनिमोनिया के रोगाणु के आकार (1500 Å) से अधिक है, जो सींग वाले जन्तुओं को लगता है और कृत्रिम पोषक माध्यमों में विकसित होता है।

जीव प्रतिजीनों के आक्रमण का विरोध करता है. अक्सर ऐसा होता है कि वैज्ञानिक लोग प्रयोगिक आधार पर व्यावहारिक परामर्श देने को पहले ही तैयार होते हैं, जबकि प्रयोगों की संतोषजनक व्याख्या उसके बाद ही कर पाते हैं। प्रतिरक्षा-विज्ञान के साथ भी ऐसा ही हुआ।

---

* कोपेक—सोवियत संघ में प्रचलित सिक्का, 1 रूबल = 100 कोपेक।
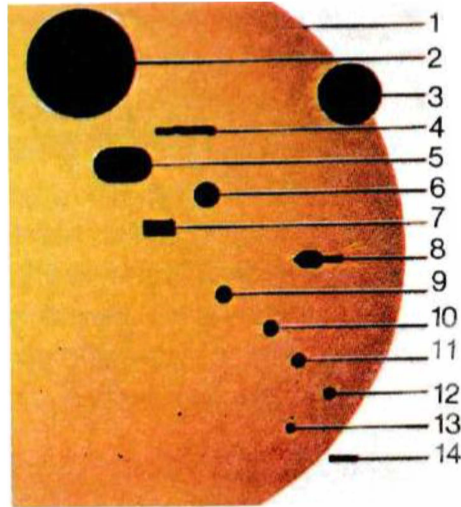
कुछ विषाणुओं के कणों तथा मनुष्य के रक्ताणु की तुलना।

मनुष्य का रक्ताणु
सूक्ष्म जीवाणु (7500 Å)
रिकेटसी (4750 Å)
तम्बाकू किर्मीर का विषाणु (3000 × 15 Å)
चेचक के टीके का विषाणु (2100 × 2600 Å)
फ्लू का विषाणु (1150 Å)
पागलपन-रोग का विषाणु (800-1800 Å)
जीवाणुभोजी 12 (800 Å)
घोड़ों की इंसेफलोमायेलिटिस का विषाणु (500 Å)
रिफ्ट घाटी ज्वर का विषाणु (300 Å)
चिचड़े के इंसेफलाइटिस का विणाणु (200-300 Å)
पोलियोमायेलिटिस का विषाणु (270 Å)
खुर-व्रण का विषाणु (210 Å)
हीमोग्लोबिन का अणु (150 × 30 Å)

प्रतिरक्षा-विज्ञान का आधार जीव के एक अद्वितीय गुण पर आधारित है जो **प्रतिकाय** उत्पन्न करता है। ये विशेष पदार्थ जीव में विशेष रूप से उसी समय पैदा होते हैं जब जीव में कोई बाहरी पदार्थ प्रवेश कर जाता है तथा यह बाहरी पदार्थ जीव के लिए हानिकारक होता है (जीवाणु, विषाणु या कोई अन्य विष)।

वे बाहरी पदार्थ जिनके विरोध में प्रतिकाय उत्पन्न होते हैं, प्रतिजीन कहलाते हैं। कभी-कभी (और ऐसी स्थितियां विषाणु-विज्ञान में भी ज्ञात हैं) जीव किसी कारणवश बाहरी पदार्थ के प्रवेश करने पर कोई अभिक्रिया नहीं करता, और प्रतिकाय उत्पन्न नहीं होते हैं। इस स्थिति में जीवाणु या विषाणु बिना किसी विरोध के अपना कार्य जीव

प्लाज्मा कोशिका द्वारा बनाये समचतुर्भुज आकृति वाले प्रतिकाय दीर्घ-वृत्त वाले प्रतिजीनों-विषाणुओं से मिलने का प्रयास करते हैं, उनको आपस में जोड़ कर नीचे बैठा देते हैं।

में आरम्भ कर देता है। लेकिन हर्ष की बात यह है कि ऐसा बहुत कम होता है।

जीव में प्रवेश करने वाले बाहरी पदार्थों (प्रतिजीनों) का वह पूरा प्रतिरोध करता है और सही कहा जाये तो प्रत्येक प्रकार के प्रतिजीन के लिए जीव में एक विशेष प्रतिकाय होता है। वह जीव, जिसमें किसी भी प्रकार के बाहरी कण या पदार्थ के विरुद्ध प्रतिकाय पैदा हो जाते हैं (रोगाणु के विरुद्ध प्रतिकाय), प्रतिरक्षित जीव कहलाता है। उदाहरणतया, मनुष्य में चेचक के वैक्सीन के परिणामस्वरूप, मनुष्य चेचक के विरुद्ध प्रतिरक्षित हो जाता है और चेचक के विषाणुओं के प्रवेश का विरोध करने के लिए पूर्णत: तैयार हो जाता है।

प्रतिकाय किस प्रकार बनते हैं, वे बाहरी प्रतिजीनों के विरुद्ध किस प्रकार कार्य करते हैं, तथा कई अन्य समस्याओं का, जिनका सम्बन्ध जीव की रक्षी-क्रिया से है, अध्ययन एक विशेष विज्ञान--प्रतिरक्षा-विज्ञान —में किया जाता है, जिसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। हम इस विस्तृत महत्वपूर्ण जटिल विज्ञान का सविस्तार वर्णन नहीं करेंगे। लेकिन चूंकि प्रतिरक्षा-विज्ञान में विषाणुओं को प्रतिजीन ही मानते हैं, इसलिए हम कुछ घटनाओं का अध्ययन अवश्य करेंगे जो जीव में विषाणु-प्रतिजीन के प्रवेश करने के पश्चात घटित होती हैं।

जीव में विभिन्न अवरोधों, जैसे त्वचा, एपीथेलियम, आदि, को पार करके विषाणु या अन्य कोई रोगाणु (प्रतिजीन), रक्त और लसीका में आ जाता है। इस क्षण से प्रतिकायों का निर्माण आरम्भ होता है; यह कोशिकाओं के द्रव्य के कार्य का फल है। रक्त में प्रतिरक्षी ग्लोबु-लीन का संश्लेषण होता है—और विभिन्न प्रकार के प्रतिकाय उत्पन्न होते हैं। इस समय रक्त में, जो विषाणुओं का वाहक बन गया होता है, रक्ताणुओं, श्वेताणुओं और अन्य कई कोशिका-तत्त्वों के अतिरिक्त, प्रतिजीन तथा उनके लिए विशिष्ट प्रतिकाय भी विद्यमान होते हैं। ये
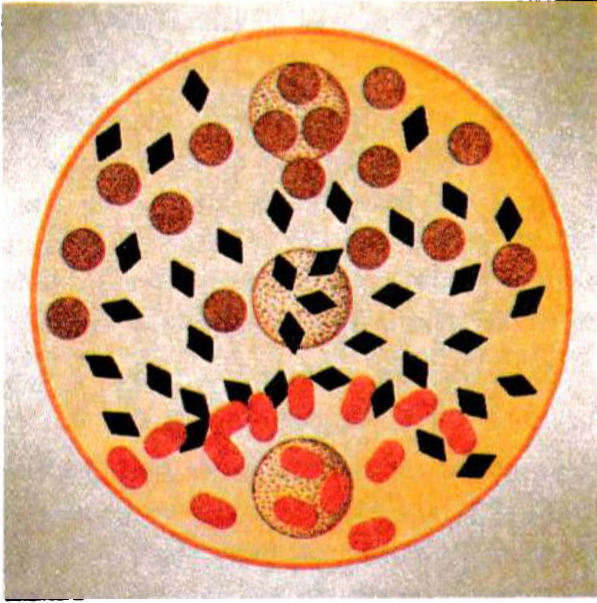
ऐगार झिल्ली में बीच वाली कूपिका प्रतिसीरम से भरी हुई है, ऊपर तथा नीचे वाली कूपिका में विषाणु है (समचतुर्भुज तथा वृत्त वाले)। कुछ घंटों के अन्दर पदार्थ चारों ओर फैल गये। नीचे वाली कूपिका में उपस्थित विषाणु प्रतिजीन हुए जो प्रतिसीरम में उपस्थित प्रतिकायों के अनुरूप थे, इसी कारणवश मध्य तथा नीचे वाली कूपिका के बीच अवक्षेपण-प्रक्रिया घटित हुई।

सभी रक्त के द्रव भाग—सीरम—में रहते हैं। वह सीरम, जिसके अंदर निश्चित आकृति वाले तत्व अनुपस्थित होते हैं तथा जिसमें प्रतिरक्षी ग्लोबुलीन (प्रतिकाय) होते हैं, **प्रतिसीरम** कहलाता है।

प्रतिसीरम में बाहरी प्रतिजीन बहुत अधिक देर तक स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकते। ये प्रतिकायों के साथ मिलकर संगुटिका बनाते हैं

तथा ये विशाल समूहन पपड़ी के रूप में अवसादित हो जाते हैं। यदि एक स्वतंत्र प्रतिजीन अवसादित होता है तो इस प्रक्रिया को **अवक्षेपण** कहते हैं; यदि कोशिका के साथ संबंधित प्रतिजीन अवसादित होता है, तो इसे **स्कंदन** कहते हैं। और, यदि रक्ताणु के साथ संबंधित प्रतिजीन अवसादित होता है, तो इसे **रक्त-स्कंदन** कहते हैं।

सीरमी अभिक्रियाओं के इन प्रकारों को हम कोई भी नाम क्यों न दें, जीव के लिए वे सदा महत्वपूर्ण हैं; कारण यह कि खतरनाक प्रतिजीन अपनी गतिशीलता खो बैठते हैं, रक्त में अवसादित हो जाते हैं और भक्षक कोशिकाओं द्वारा पकड़ लिये जाते हैं। उन्हीं में इनका अधिशोषण तथा पाचन भी हो जाता है। इस प्रकार जीव जाने-पहचाने शत्रुओं से संघर्ष करता है।

सीरमी अभिक्रिया अभिज्ञान में सहायता करती है. अवक्षेपण अभिक्रियाएं (या स्कंदन या रक्त-स्कंदन की क्रियाएं) रक्त में ही नहीं, बल्कि सीरम में भी स्थान ले सकती हैं। यदि एक परख-नली में प्रतिसीरम—अर्थात प्रतिकाय युक्त रक्त-सीरम—में प्रतिजीनों के विलयन को डाल दिया जाये, तो निम्न प्रक्रिया संभव है : पारदर्शी विलयन गंदला हो जायेगा, परख-नली में पपड़ियां उत्पन्न होकर उसके तल पर अवसादित होने लगेंगी; अन्य कोई प्रत्यक्ष परिवर्तन नहीं होगा। स्पष्ट है कि प्रथम स्थिति में प्रतिसीरम में प्रतिकाय थे, जो डाले गये प्रतिजीनों के तदनुरूपी थे। प्रतिकाय अपने शत्रुओं पर टूट पड़े और उनकी सक्रियता को नष्ट करके उन पर विजय प्राप्त कर ली। दूसरी स्थिति में, प्रतिजीनों का पता नहीं लगाया जा सका और "चौकीदारों" ने उनके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाये।

निस्सन्देह, वैज्ञानिकों ने प्राकृतिक परिघटना—प्रतिरक्षा—का प्रयोग निदान-शास्त्र में किया। सीरमी अभिक्रियाओं से स्पष्ट हो जाता है कि एक नियत प्रतिकाय एक नियत प्रतिजीन के अनुरूप है या नहीं।

सरलतम विधि में यह निम्न प्रकार से किया जाता है : जन्तु के रक्त की या वनस्पति के रस की एक बूंद ली जाती है जिसमें विषाणु के होने की आशंका होती है और उसमें प्रतिकाय वाले प्रतिसीरम की एक बूंद मिला दी जाती है, जो एक ज्ञात विषाणु द्वारा रोगग्रस्त होता है। बारी-बारी से विभिन्न प्रतिकायों वाले प्रतिसीरमों का अध्ययन किया जाता है और यह देखा जाता है कि अवक्षेपण होता है या नहीं। यह सारी प्रक्रिया एक शुद्ध स्वच्छ कांच के टुकड़े पर की जाती है जहां आप स्पष्ट अवक्षेप देख सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि प्रति-सीरम में ऐसा प्रतिकाय न होगा जो विचाराधीन विषाणु के अनुरूप हो, तब कोई अवक्षेपण नहीं होगा।

सामान्यत: ये शोधकार्य ऐगार के परिवेश में किये जाते हैं। पार-दर्शी कांच के पात्रों—पेट्रीडिशों—में जिलेटिन (ऐगार) का विलयन डाला जाता है। ऐगार के कठोर होने से पहले उसमें छिद्र किये जाते हैं। इन छिद्रों में प्रतिजीन (विषाणु वाले विलयन) और प्रतिसीरम के विलयन डाले जाते हैं। ये पदार्थ धीरे-धीरे सभी दिशाओं में फैलने लगते हैं और छिद्रों के बीच मिलने लगते हैं। अवक्षेपण की अभिक्रिया का एक विशिष्ट चिह्न ऐगार में अवक्षेप की एक श्वेत पपड़ी के रूप में प्रकट होता है।

जीव-विज्ञान में अंकित (पहचान के लिए चिह्न लगे) परमाणुओं का उपयोग बहुत प्रचलित हो गया है। सीरम, कोशिका, आदि, में उपस्थित कुछ तत्वों के सामान्य परमाणुओं का विघटनाभिक समस्था-निकों द्वारा विस्थापन कर दिया जाता है। विघटनाभिक परमाणु निरंतर अपनी स्थिति के बारे में संकेत प्रेषित करता रहता है। नगण्य-सा विघटनाभिक विकिरण, जो कुल मिलाकर जीव के लिए हानिकारक नहीं होता, विभिन्न यंत्रों द्वारा सरलता से ज्ञात किया जा सकता है—यहां तक कि उस स्थिति में भी जब तत्त्व काफी गहराई तक कोशिका के "अन्दर" चला गया हो। विषाणु-विशेषज्ञ इस गुण का उपयोग करते हैं। प्रतिकाय को बिना कोई हानि पहुंचाये उसके अंदर

विघटनाभिक परमाणु प्रविष्ट कराये जाते हैं। रक्त (रस) या जीव की कोशिका में प्रवेश करने के पश्चात प्रतिकाय अपने तदनुरूप प्रतिजीनों को ढूंढ़कर उनके साथ, अर्थात विषाणु के साथ, संबंधित हो जाते हैं। अब समस्थानिक प्रतिजीन अपनी स्थिति के बारे में संकेत प्रेषित करना आरंभ कर देगा। यदि प्रतिकायों के साथ प्रदीप्तिशील रंजक भी युग्मित कर दिया जाये, तो इस स्थिति में तदनुरूप प्रतिजीन प्रदीप्त होने के कारण दृष्टिगोचर हो जायेगा।

एक दृढ़ सहारा—आधारभूत विज्ञान. हजारों वर्ष तक लोग, जानवर तथा पौधे विषाणुओं के आक्रमण का शिकार होते रहे। शत्रु अदृश्य था और उसकी प्रकृति के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं था। केवल श्रेष्ठ उपकरणों और अभिकर्मकों को प्राप्त करके तथा शोधकार्य की युक्ति-संगत विधियों को ढूंढ़कर, वैज्ञानिकों ने विषाणुओं का योजनाबद्ध रूप से अध्ययन आरम्भ किया। अपनी प्रकृति और उद्देश्य के आधार पर विषाणु-वैज्ञानिकों के हथियार विभिन्न प्रकार के थे। उदाहरणतया, विषाणु-प्रसाधनों का शुद्धिकरण तथा प्रोटीन एवं न्यूक्लीक घटकों का पृथक्करण, केवल पराअपकेन्द्रण द्वारा ही नहीं करते हैं बल्कि आयनी विनिमायकों द्वारा अधिशोषण तथा आणविक छलनी द्वारा फिल्टरन से भी करते हैं।

छठे दशक तक विषाणुओं को केवल एक विधि से विकसित किया जाता था। ऐसे जन्तुओं, मुर्गी के भ्रूणों या वनस्पतियों को रोगग्रस्त किया जाता था, जो ग्रहणशील थे। आज शोधकर्ताओं के पास हथियारों के रूप में ऊतकों एवं जीवों के इकपरती समूह के अध्ययन की विधियां हैं, जो विषाणुओं का शुद्धिकरण काफी सरल कर देती हैं जिसके परिणाम-स्वरूप उनके भौतिकीय, रासायनिक और जीव-वैज्ञानिक गुणों का ज्ञान प्राप्त करना भी सरल हो जाता है।

भौतिकीय एवं रासायनिक विधियों के अतिरिक्त विषाणु-वैज्ञानिकों के पास गणितीय विधियां भी हैं। आधारभूत एवं व्यावहारिक विज्ञान

के विकास में गणित का महत्व सबको ज्ञात है। गणितीय परिकलनों के बिना विषाणु-विज्ञान का भी काम नहीं चल सकता। इन परिकलनों की आवश्यकता का कारण यह है कि विषाणु-विज्ञान में अध्ययन की वस्तु इतनी अधिक छोटी होती है कि अध्ययन एक विषाणु का नहीं अपितु बड़ी संख्या में उनके समूह का किया जाता है। विषाणु-समूह के गुण एक विषाणु के गुण से हमेशा नहीं मिलते हैं। समस्त गुणों के अध्ययन और वर्णन के लिए सांख्यिकीय विधियों का उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त, गणित से हमें प्रयोगों की योजना बनाने में भी सहायता मिलती है। यह वांछनीय है कि हम अपने शोधकार्यों के प्रयोगों के परिणामों का अनुमान पहले से किये गये समान प्रयोगों के आधार पर लगा सकें। इन परिणामों का मूल्यांकन तथाकथित आशाजनक या निराशाजनक दृष्टिकोण से किया जाता है। गणित-तथ्यात्मक विज्ञान की सहायता से जीव-वैज्ञानिक विचाराधीन खरगोश का चयन, उसे लगाये जाने वाले टीकों की संख्या, प्रयोग की अवधि तथा परिणामों का वस्तुगत मूल्यांकन कर सकते हैं।

गणितीय विश्लेषण करने में हमारी सहायता कम्प्यूटर (परिकलक) करते हैं। परिकलक मशीन को हम विषाणु-रोगों का पता लगाने का महत्वपूर्ण कार्य सौंपते हैं। रोगी की अवस्था के बारे में असंख्य सूचनाओं का मूल्यांकन करने में परिकलक चिकित्सक का एक सच्चा मित्र बन गया है।

विषाणु-वैज्ञानिक का कार्य काफी जटिल, विस्तृत तथा उत्तरदायित्वपूर्ण है। शोधकार्य के सर्वाधिक आधुनिक "हथियारों" का सही उपयोग, केवल निपुण हाथ ही कर सकते हैं। वैज्ञानिकों को महीन कणों के साथ ही कार्य करना पड़ता है—विचाराधीन जन्तुओं के मामले में भी और वनस्पतियों के विशाल बागानों के मामले में भी। यह कार्य खतरे से खाली नहीं है; विषाणुओं के साथ हंसी-मजाक करना घातक सिद्ध हो सकता है। विषाणु एक खतरनाक और घातक पदार्थ है जिसके साथ कार्य करते समय अत्यधिक सतर्क रहना आवश्यक है।

विषाणु की "वास्तुकला"

प्राकृतिक संरचनाएं. मानवजाति का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। प्राचीन सभ्यता के सर्वाधिक वैशिष्ट्यपूर्ण एवं सर्वाधिक आधारभूत अवशेष मंदिरों, महलों तथा सार्वजनिक भवनों के अवशेष हैं। प्रति वर्ष लाखों लोग वास्तुकला के इन नमूनों को देखने पहुंचते हैं जिन्हें ज्ञात और अज्ञात कलाकारों ने बनाकर निर्माण-विज्ञान की आधारभूत मांगों को—अर्थात उपयोग, दृढ़ता एवं सुन्दरता को—एक भौतिक रूप दिया।

आप जब विभिन्न विषाणुओं को इलेक्ट्रॉनी सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखते हैं, तो एकाएक आपको एक ख्याल आता है कि ये अत्यधिक विकसित सभ्यता के स्मारकों के काल्पनिक और कभी-कभी तो वास्तविक स्वरूप जैसे हैं। और, यहां सबसे अद्भुत बात यह है कि ये अपने आप में संपूर्ण प्रकृति द्वारा स्वयं ही, अर्थात मनुष्य का हाथ लगे बिना, बने हैं।

अतः, विषाणु-वैज्ञानिक सदैव उन सभी संभव विधियों को ढूंढ़ते रहते हैं, जिनकी सहायता से वे विचाराधीन विषाणु-प्रसाधन में विद्यमान विषाणुओं को और भी अच्छी तरह से देख सकें, उनकी आकृति को समझ सकें और यदि संभव हो तो उनकी संरचना के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर सकें। इसके लिए वे विषाणुओं के पदार्थों का भौतिकीय व रासायनिक विश्लेषण तथा उनका एक्सरे करते हैं। इन विधियों की सहायता से आप विचाराधीन पदार्थ के अंदर भी "झांक कर" देख सकते हैं और विषाणुओं की त्रिविम संरचना के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

प्रकृति में जीवों की आकृति उनके वर्गीकरण के लिए एक आव-

श्यक सूचक है। वनस्पति-विज्ञान और जीव-विज्ञान में ऐसे विशेष विभाग हैं जिनका नाम है—आकृति विज्ञान (Morphology)। निर्माण के नियमों का यह विज्ञान [(morphe (gr.)+logy) शब्दों के अनुसार science of form] विषाणु-वैज्ञानिकों की भी सहायता करता है। अधिकांश शोधकर्त्ताओं का मत है कि "अव्यवस्थित" विषाणुओं का वर्गीकरण आकृति-विज्ञान के संकेतों पर आधारित होना चाहिए।
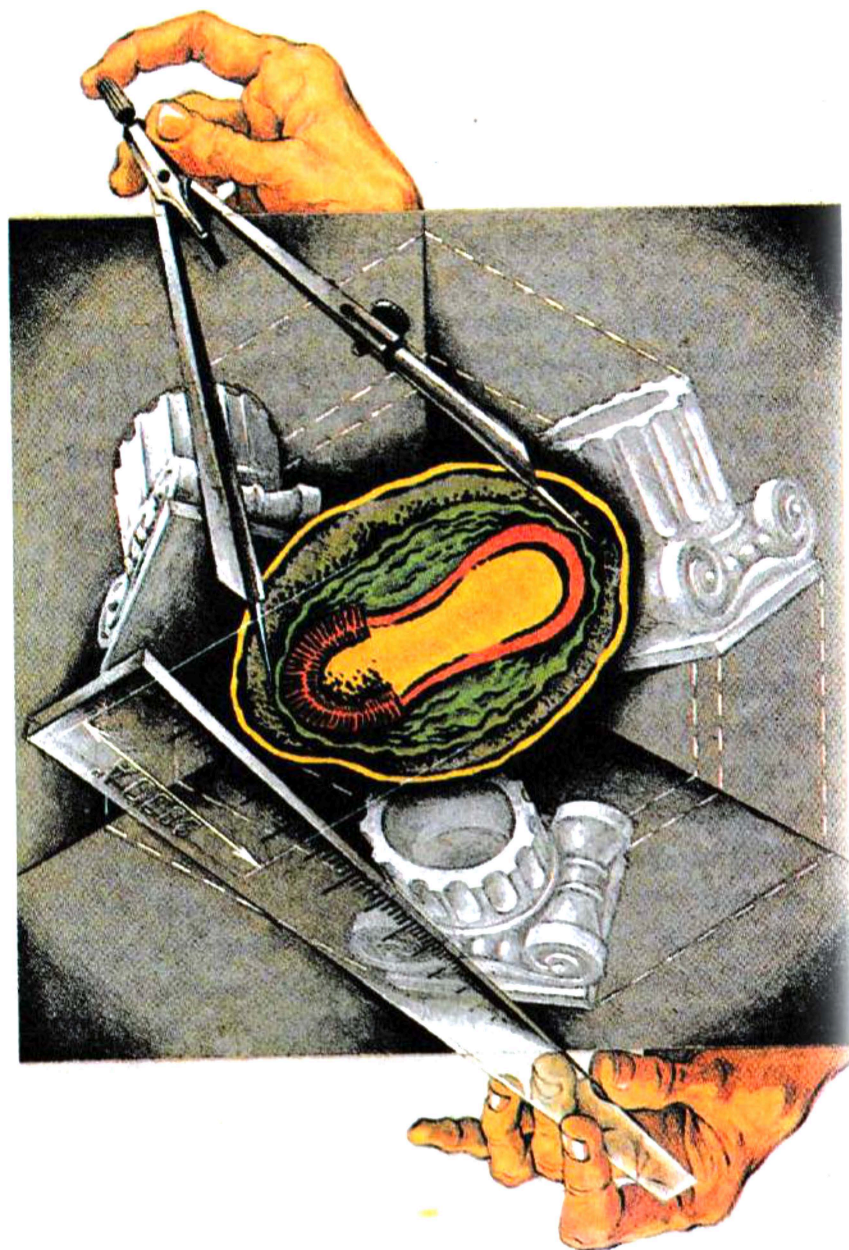
ऐसे ढूंढ़ो कि टूटे नहीं! उन अदृश्य शत्रुओं के साथ, जो मनुष्यों, जंतुओं एवं वनस्पतियों को अनेक शताब्दियों तक नष्ट करते आये हैं, वैज्ञानिक अत्यंत सावधानी व हल्के हाथों से ऐसे कार्य करते हैं मानो वे पतले कांच के छोटे-छोटे खिलौनों के साथ काम कर रहे हों। और, वस्तुतः कोशिकाओं के भग्नावशेषों के बीच से विषाणु को अलग करने की समस्या वैसी ही है, जैसे विभिन्न खिलौनों में से, जिनमें लोहे की गोलियां भी हों, कांच की गेंदों को सही सलामत निकाल लेना।

यहां कठिनाई इस बात में है कि प्रत्येक विषाणु को पकड़ने की एक निजी विधि है। संभव है कि गोलाकार आकृति वाले विषाणुओं को ढूढ़ने की विधि डंडीनुमा विषाणुओं को ढूढ़ने में काम न आये। विषाणु-प्रसाधन के शुद्धिकरण की एक शर्त यह होनी है कि विषाणु-कणों को किसी प्रकार की हानि न पहुंचे।

पृथक्करण की विधि. वनस्पति-विषाणुओं के पृथक्करण की विधियों में सर्वाधिक क्षिप्र विधि है—डुबोने की विधि। एक पत्ती का किनारा काट कर उस काटे हुए हिस्से को एक-दो सेकेंड के लिए आसवित जल की एक बूंद में डुबो देते हैं, जो सेलुलाइड की परत चढ़ी एक महीन जाली के ऊपर रखी होती है। विषाणुओं का कुछ भाग इस बूंद द्वारा धुलकर पत्ती से अलग हो जाता है, बूंद सूख जाती है और विषाणु-कण सेलुलाइड की परत पर आ जाते हैं। अब केवल इन्हें जड़ना (इनकी

किस्म निर्धारित करना) और इनका विपर्याम करना रह जाता है। पर जल की बूंद में पत्ती का रस आ जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि सूखने पर विषाणु-कणों के साथ अनावश्यक प्रोटीन-कण भी आ जाते हैं—और ये प्रोटीन-कण विषाणुओं जैसी ही आकृति के होते हैं।

निस्संदेह, वैज्ञानिकों की यह चेष्टा रहती है कि वे सर्वाधिक शुद्ध प्रसाधन प्राप्त कर सकें। इसके लिए वे विभिन्न जटिल विधियों को प्रयुक्त करते हैं। ऊपर चर्चित विभेदक अपकेन्द्रण-विधि का सफलता-पूर्वक प्रयोग उन अवस्थाओं में किया जा सकता है, जब विषाणुओं का आकार कोशिकाओं के आकार से काफी भिन्न हो। इक्षु शर्करा (sucrose) की घनत्व प्रवणता (gradient) में अपकेन्द्रण द्वारा उन कणों को पृथक किया जा सकता है, जो परस्पर कम भिन्नता रखते हैं।

द्रवों के विशाल आयतनों में से विषाणु को पृथक करने की श्रेष्ठ विधि है—लवणन या आइसोविद्युत बिन्दु पर अवक्षेपण। कभी-कभी रेजिन विषाणुओं का अधिशोषण कर देती हैं।

जीवाणुओं तथा अन्य बड़े कणों को पकड़ने के लिए ऐसे विशेष फिल्टर प्रयुक्त किये जाते हैं जो डायटमी मृत्तिका, पॉर्सिलेन, ऐस्बेस्टॉस से बने होते हैं। ये फिल्टर 0.5 μm (1 μm$=10^{-4}$ cm) से बड़े आकार वाले कणों को रोक लेते हैं। वे विषाणु जो 0.01 से 0.3 μ (100 से 3000 Å) तक के होते हैं, हमेशा फिल्टर से निकल जाते हैं। पर वैज्ञानिकों के पास पराफिल्टर भी होते हैं (उदाहरण के लिए, नाइट्रोसेलुलोस की झिल्ली) जो विषाणु को रोक सकते हैं। इस प्रकार की झिल्लियों की सहायता से विषाणु-कणों के आकारों को उस समय भी निश्चित किया जा सकता है, जब विषाणुओं की संख्या बहुत कम होती है। इसके लिए आवश्यक है कि विषाणुओं को बारी-बारी से भिन्न आकार के छिद्रों वाली झिल्लियों से छाना जाये और उस फिल्टर को ढूंढा जाये जो सबसे अधिक कणों को रोके, तथा इस फिल्टर के छिद्रों का व्यास नापा जाये।
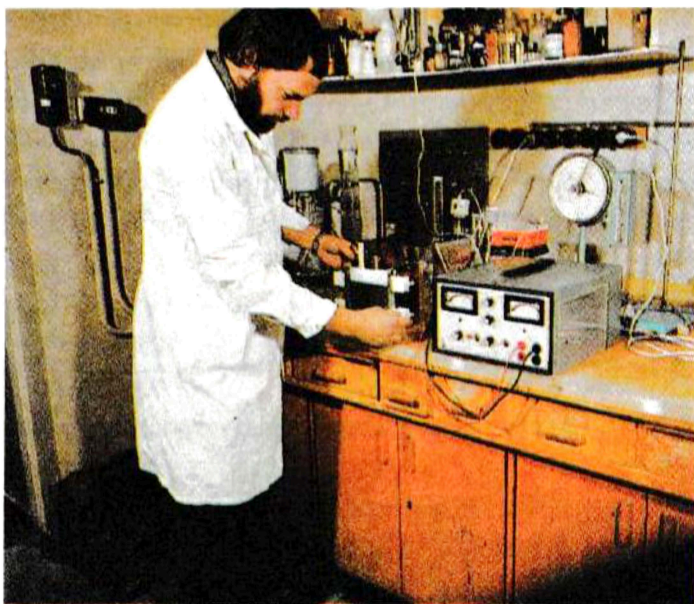
विषाणुओं के जीनन्न वैद्युत कण-संचलन के लिए आवश्यक उपकरण । इसके द्वारा विद्युत-क्षेत्र उत्पन्न किया जाता है जिसके प्रभाव के फलस्वरूप प्रयोगात्मक सामग्री के कण (प्रोटीनों के टुकड़े, विरिओन, आदि) का विभिन्न परतों में विभाजन हो जाता है ।

नापने की कुछ विधियां. शब्द "नापना" कहना बहुत सरल है । इस कार्य के लिए (और इसी प्रकार अन्य प्रयोगों को करने के लिए भी) जीव-वैज्ञानिक को भौतिकी का अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है । छिद्रों का व्यास दाब की उस राशि के आधार पर परिकलित किया जाता है जिस पर झिल्ली से होकर वायु के बुलबुले जल के अन्दर प्रविष्ट होते है, या एक निश्चित गति के साथ जल को दबाकर झिल्ली से पार कराते हैं । लेकिन जो कण छिद्रों में से निकल जाते हैं, उनका आकार छिद्र के व्यास से 1.25 गुना कम होता है ।

विषाणुओं के मापन में विसरण परिघटना भी सहायता करती है। विसरण के लिए आवश्यक परिस्थितियों को विशेष रूप से बनाया जाता है जिसके लिए विषाणु-कणों के विलयन और एक निश्चित आण्विक परिवेश वाले विलयन को परत-दर-परत डाला जाता है। भौतिकी के नियमों के अनुसार कण परिवेश में प्रवेश करने की चेष्टा करते हैं। और तापमान (T) ज्ञात होने पर परिवेश के स्पर्श-क्षेत्र और इकाई समय में सान्द्रण में परिवर्तन नापकर विसरण का गुणांक (D) ज्ञात कर सकते हैं। यह गुणांक मालूम होने पर गोलाकार कणों का अर्धव्यास (r) सरलता से निश्चित किया जा सकता है : $r = \frac{RT}{NDG\pi\eta}$, जहां R—गैसीय स्थिरांक, N—आवोग्राद्रो की संख्या व η—परिवेश की श्यानता।

लेकिन उन कणों के साथ कार्य करना अधिक कठिन होता है जिनकी आकृति गोल नहीं होती है। चूंकि इस स्थिति में विसरण-गुणांक एक साथ तीन नापों (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) पर निर्भर करता है, तो अतिरिक्त आंकड़ों की आवश्यकता पड़ती है। अत: परख-नली को अप-केन्द्रक में रखकर विसरण की परिस्थिति में परिवर्तन लाया जाता है। घूर्णन-अक्ष से कण दूर हटते जाते हैं, और साथ ही उनका विसरण विपरीत दिशा में बढ़ता जाता है। संतुलन के क्षण पर विषाणुओं का द्रव्यमान परख-नली के दोनों भिन्न बिन्दुओं पर उनके सान्द्रण द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। इसके पश्चात एक निश्चित पूर्वधारणा के आधार पर उनके आकारों को भी ज्ञात किया जा सकता है।

कणों के सान्द्रण और उनके आकारों को निर्धारित करने में प्रकाश भी सहायता करता है। विलयन में विसरित प्रकाश की तीव्रता को माप कर इन विशेषताओं को भी जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न कोणों पर विसरित प्रकाश की मात्रा में होने वाले परिवर्तन के आधार पर, लम्बे विषाणुओं की असममिति की कोटि भी निर्धारित की जा सकती है।

स्वरूप व आकार में एक समानता. प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि जीव-जगत और वनस्पति-जगत के निवासियों का अपना बाल्यकाल होता है, वे प्राय: तेजी से विकसित होते हैं, अपना आकार तथा कभी-कभी आकृति भी परिवर्तित करते हैं और अंत में वयस्क-अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। होना भी ऐसा ही चाहिए, क्योंकि कोशिकाएं, जिनसे सभी सजीव-पदार्थ बने हैं, विकसित होती हैं। कोशिकाओं के समूह में (एक ही प्रकार की कोशिकाओं का कुल योग), जो सामान्य अवस्था में विकसित होती हैं, विभिन्न आकारों वाली कोशिकाएं होती हैं जो विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर रहती हैं।

एक निश्चित प्रकार के विषाणु-समूह में सभी कण, अधिक यथातथ्य रूप से कहा जाये, तो उनके आवरण, जिन्हें **कैप्सिड** कहते हैं, एक समान आकार और रूप रखते हैं। आकार और रूप की इस समानता से ऐसा लगता है मानो विषाणु एक अति लघु कारखाने की वाहक-पट्टी से निकल कर आ रहे हों। ध्यान देने पर आप देख सकते हैं कि उन्हें ऐसे

तम्बाकू किर्मीर विषाणु का इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्मचित्र।

तम्बाकू किर्मीर विषाणु के एक कण की संरचना । न्यूक्लीक अम्ल का गरिगाणु (राइबोन्यूक्लीक अम्ल 6390 न्यूक्लीओटाइडों से बना है) बाहर से प्रोटीन के 2130 अणुओं से घिरा हुआ है ।

गरिगाणु का व्यास—23 Å

घुडियों की कुल संख्या—130

घटकों से "बनाया गया है" जैसे किसी इमारत को एक ही प्रकार की ईंटों से बनाया जाता है—और वह भी ज्यामिति के नियमों के पूर्ण पालन के साथ । इलेक्ट्रानी सूक्ष्मदर्शी की सहायता से किये गये शोध-कार्यों के परिणामों से पूर्णतः स्पष्ट हो गया था कि प्रकृति ने दो ज्यामितीय कैप्सिड बनाये हैं—सर्पिल तथा घनाकार (तुल्यमितीय या मिथ्या गोलाकार) । यह अवश्य सच है कि विषाणुओं के आवरण के प्रकार को हमेशा नहीं देखा जा सकता । जैसे कि कोई इमारत आसपास के वृक्षों से ढकी रहती है, उसी प्रकार कैप्सिडों के ऊपर भी एक अन्य

आवरण चढ़ा होता है, जो विषाणु के विकास के अन्तिम स्तर पर प्रकट होता है। स्पष्ट है कि शोधकर्ता बाहरी आवरण को पार करने में ही नहीं, बल्कि स्वयं कैप्सिड के अन्दर "झांक पाने" में भी सफल होते हैं।

सर्पिल कैप्सिडों वाले विषाणु. सर्पिल सममिति की विशेषता यह है कि घूर्णन-अक्ष के चारों ओर पूरी तरह चक्कर लगाने के पश्चात, आकृति अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आ जाती है। वनस्पतियों व बहुत से जीवाणुओं को ग्रस्त करने वाले अधिकांश विषाणुओं की सममिति सर्पिल होती है। इस प्रकार के विषाणु के उदाहरण के रूप में तम्बाकू किर्मीर विषाणु को लिया जा सकता है। दूर से देखने पर यह विषाणु अपेक्षाकृत कम अभिवर्धन पर एक डंडी की तरह लगता है।

तम्बाकू किर्मीर विषाणु तथा कुछ अन्य विषाणुओं की डंडियां काफी दृढ़ होती हैं और सूक्ष्म फोटो में सदा सीधी नजर आती हैं। तम्बाकू किर्मीर विषाणु की डंडी की औसत लम्बाई 3000 Å तथा मोटाई 150 से 170 Å तक होती है।

डंडीनुमा विषाणुओं के ग्रुप में आलू के x–विषाणु (लम्बाई 515 Å) तथा चुकंदर के पीलिया के विषाणु (लम्बाई 1250 Å) भी आते हैं। इस प्रकार के विषाणुओं में तम्बाकू किर्मीर विषाणु की तुलना में सर्पिल अन्तराल 1.5 गुना अधिक होता है।

तुल्यमितीय कैप्सिडों वाले विषाणु. घनीय सममितीय आकृति वाले विषाणुओं में घूर्णन के 3 अक्ष होते हैं (अष्टफलकीय, चतुष्फलकीय, विंशफलकीय)। मानव तथा जंतुओं के अनेक विषाणु—पोलियोमायेलिटिस विषाणु, अंछर (खुरपका) के विषाणु—इस प्रकार की सममिति रखते हैं। प्रथम दृष्टि में ये विषाणु गोलाकार दिखायी देते हैं, लेकिन अधिक ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि इनके अनेक सुनिश्चित फलक हैं : गोलाकार या प्रिज्मनुमा, ठोस या नलिकादार, चिकने या नुकीले।
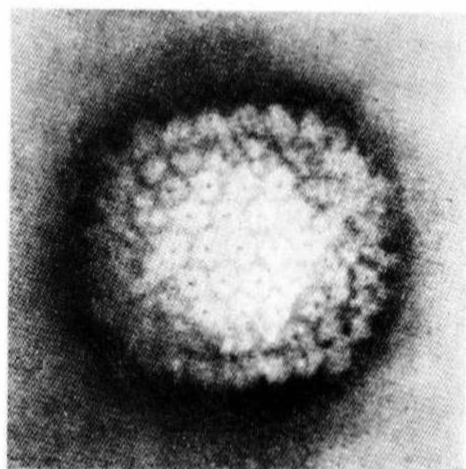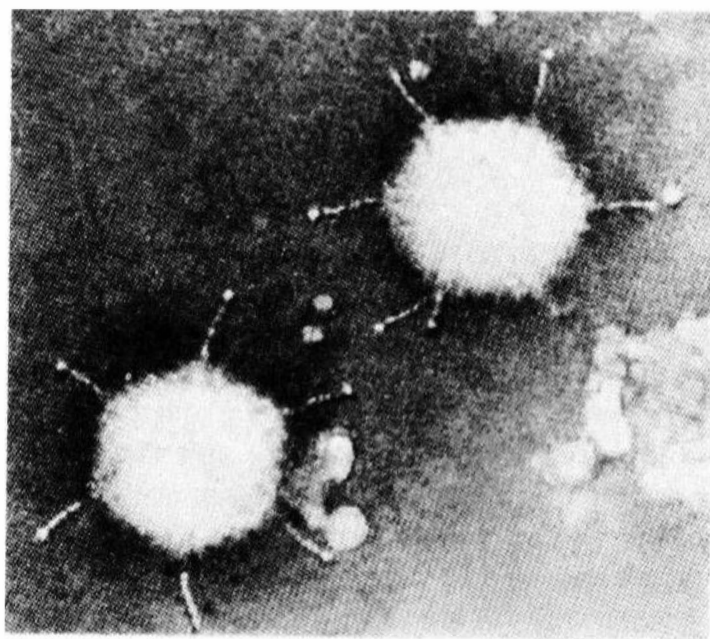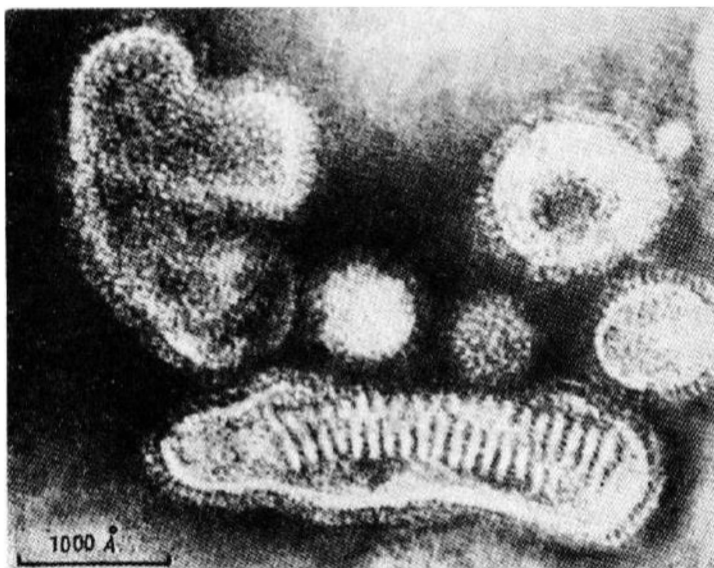
फ्लू के विषाणु के एक कण का इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्मचित्र। कैप्सिडों की कोई विशेष निश्चित आकृति नहीं होती है। उसका बाहरी आवरण असंख्य कांटों से ढंका होता है। भीतर की ओर से घटक गोलाकार छल्लों में बंद होता है।

तुल्यमितीय कैंस्पिडों वाले विषाणुओं के उदाहरण है : शलजम के पीत किर्मीर विषाणु, परिसर विषाणु, ग्रन्थि-विषाणु। ज्ञात विषाणुओं में सर्वाधिक महीन विषाणु है—अनुषंगी विषाणु (satellite virus)। इसकी आकृति बहुफलकीय होती है तथा इसका व्यास लगभग 180 Å होता है।

ग्रन्थि-विषाणु के कणों का इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्मचित्र। कैप्सिड विंशफलकीय आकृति का होता है। इसके ऊपरी सिरे से तागे के आकार की पूंछें निकली होती हैं।

परिसर्प-विषाणु का इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्मचित्र।

जटिल कैप्सिड. ऐसे भी विषाणु देखने में आते हैं जिनकी ज्यामितीय आकृति बहुत जटिल होती है। उदाहरण के लिए, लूसर के विषाणु लघु बैसिलस जैसे लगते हैं। फ्लू व पैराफ्लू के विषाणुओं का मध्य भाग सर्पिल रूप का होता है। कई जीवाणुभोजियों (जीवाणुओं के विषाणुओं) के कैप्सिड और भी अधिक जटिल संरचना वाले होते हैं।

विषाणुओं के बीच विशाल आकार वाला विषाणु चेचक का विषाणु होता है। चेचक के विषाणु, संक्रामक स्फोटपूर्ण त्वकशोथ के विषाणु तथा कुछ अन्य विषाणुओं के बाहर एक जटिल आवरण होता है, जिसके नीचे आन्तरिक अंग छिपे रहते हैं। यहां इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि विषाणु की संरचना जितनी अधिक जटिल होगी, उसकी आकृति अपनी "मानक आकृति" से उतनी ही अधिक विचलित होने की सम्भावना रखेगी क्योंकि विषाणुओं के नये कणों की उत्पत्ति के समय त्रुटियों की सम्भावित संख्या बढ़ती जाती है। इन स्थितियों में, उदाहरणतया गोलाकार विषाणुओं के समूह में, धागानुमा या दीर्घवृत्तीय कैप्सिड भी देखे जा सकते हैं।

लेकिन सामान्यतः विषाणुओं की आकृति युक्तिसंगत होती है। विषाणुओं की संरचना में विद्यमान प्रोटीन तथा न्यूक्लीक अम्ल के अणु अर्थसंगत रूप से और दृढ़ता से निर्मित होते हैं। यदि ऊष्मागतिकी की (जिसके नियमों का पालन विषाणु-जगत के निवासी भी करते हैं) भाषा का प्रयोग करें, तो "वे स्वतंत्र ऊर्जा का निम्नतम स्तर रखते हैं"।

विषाणुओं के आवरण के नीचे क्या है, यह कैसे देखा जाये? ऊपर हम बता चुके हैं कि विषाणु की संरचना में न्यूक्लीक अम्ल विद्यमान होते हैं। यह परिकथन स्वाभाविक है क्योंकि हम यह मानते हैं कि विषाणु में जीवन के लक्षण होते हैं। प्रकृति ने न्यूक्लीक अम्ल इसलिए बनाया है कि आनुवंशिकता सुरक्षित रहे, उसको कार्यान्वित किया जा सके, उसका संतति-दर-संतति संप्रेषण होता रहे। ये सब वे ही क्रियाएं हैं जिनके बिना विषाणुओं का पुनरुत्थान असम्भव है।
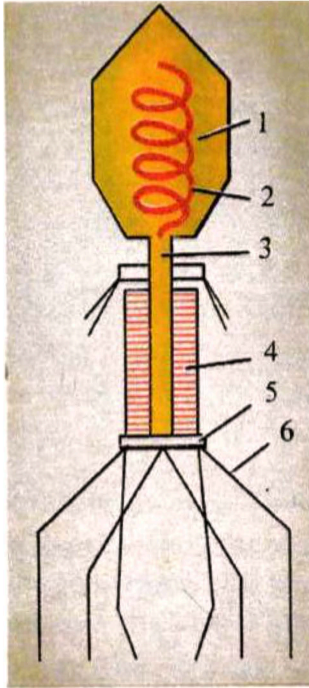
जीवाणुभोजी T4 की संरचना।

भोजी का सिर (1) विंशफलकीय आकृति का होता है। यहां डेसॉक्सी-राइबोन्यूक्लीक अम्ल (2) होता है। विंशफलक के एक सिरे से छड़ (3) निकली होती है जो संकुचन प्रोटीन के आवरण (4) से ढकी रहती है। इस पूंछ जैसी आकृति वाली छड़ के आखिरी सिरे में एक झिल्ली (5) होती है जिससे तंतु (6) जुड़े रहते हैं।

विषाणुओं को देख पाने की सम्भावना के ढंगों को ढूंढ़ना अति कठिन कार्य था। उन विषाणु-वैज्ञानिकों के सामने, जो विषाणुओं के आकार को निश्चित करने का प्रयास कर रहे थे, एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या थी—प्रसाधन को अनावश्यक कणों से मुक्त व शुद्ध करना।
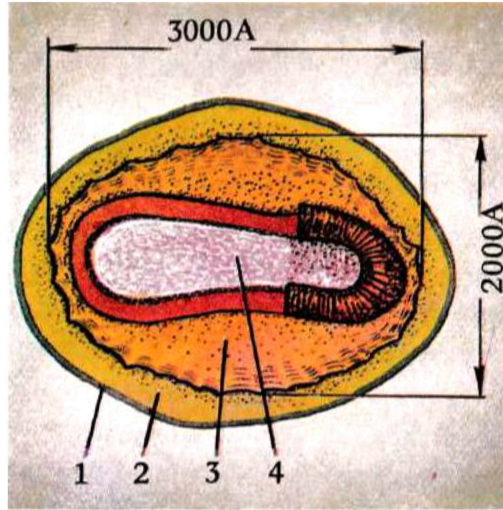
चेचक के विषाणु के कणों की संरचना। बाह्य झिल्ली (1) के नीचे विलयित प्रोटीन प्रतिजीन (2) तथा पार्श्व काय (3) होते हैं। बिल्कुल केन्द्र में न्यूक्लीओटाइड (4) स्थित है।

विषाणुओं के आवरण के नीचे छिपे हुए उन घटकों के अध्ययन के लिए यह कार्य और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस क्रिया में विषाणुओं को शुद्ध करना तो आवश्यक था, पर इसके साथ-साथ उनके आवरणों को नष्ट करना तथा उनके न्यूक्लीक अम्ल को विषाणु-प्रसाधन में उपस्थित प्रोटीन, लिपिड तथा अन्य अशुद्धियों से स्वतंत्र करना भी आवश्यक था। यह स्पष्ट ही है कि विषाणु के सूक्ष्मदर्शीय महीन टुकड़ों में से न्यूक्लीक अम्ल की महीन शृंखला को अलग करने और पकड़ने की बात सोचना तक व्यर्थ है। राइबोन्यूक्लीक अम्ल व डेसऑक्सीराइबोन्यूक्लीक अम्ल का पृथक्करण करने के लिए जटिल भौतिकी-रासायनिक प्रयोग किये जाते हैं, जिनमें से कई प्रयोगों के परिणामस्वरूप स्वतंत्र रूप से संक्रामक गुण वाले प्रसाधन प्राप्त होते हैं। तंबाकू किर्मीर विषाणु का "जीवित"

न्यूक्लीक अम्ल प्राप्त करने का सर्वप्रथम सफलता जर्मन वैज्ञानिकों ए हिरेर व एच. श्राम को मिली। उन्होंने विषाणु-प्रसाधन की फिनोल के साथ प्रक्रिया करायी। फिनोल प्रोटीनों पर सक्रियता के साथ प्रक्रिया करता है जिससे उनके गुणों में परिवर्तन आ जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप प्रोटीन को अपकेन्द्रण की सहायता से राइबोन्यूक्लीक अम्ल से सरलता से पृथक किया जा सकता है। चूंकि यह विधि व्यापक नहीं है तथा अन्य विषाणुओं के अध्ययन में भी उपयोगी नहीं है, इसलिए अन्य विधियों को ढूंढा गया—जैसे कि नमक के तनु विलयन में तापन, ग्वानिडीन, ऐसिटिक अम्ल, सोडियम डोडेसिल सल्फेट व अमोनियम सल्फेट द्वारा संसाधन। कई विषाणुओं से न्यूक्लीक अम्ल को पृथक करने के लिए विविध संयोजित विधियां भी प्रयुक्त की जाती हैं।

आनुवंशिक पदार्थों की विविध प्रकृति. वनस्पति-जगत और जीव-जगत के सभी निवासी एक या अनेक कोशिकाओं से बने होते हैं। न्यू-क्लीक अम्ल सर्वप्रथम नाभिक से पृथक किये गये थे, केवल उसके बाद ही वे कोशिका के अन्य स्थानों में ढूंढे गये। इसी करण यहां हम संक्षेप में केवल उन प्रक्रियाओं का वर्णन करेंगे जो न्यूक्लीक अम्ल कोशिका में क्रियारत होती हैं, साथ ही हम जीवों में उनके महत्व का अध्ययन करेंगे।

न्यूक्लीक अम्ल जीवित कोशिकाओं के विभाजन के समय उन पुत्री-कोशिकाओं के प्रोटीनों का संश्लेषण करते हैं, जो संरचना व संयोजन में माता-कोशिका के समान होते हैं। प्रत्येक जीव विशेष प्रकार के न्यूक्लीक अम्लों से बना होता है।

न्यूक्लीक अम्लों के दो प्रकार ज्ञात हैं : DNA—Desoxyribo-nucleic Acid—डेसऑक्सीराइबोन्यूक्लीक अम्ल व RNA—Ribo-nucleic Acid—राइबोन्यूक्लीक अम्ल। DNA कोशिका के नाभिक में होता है। इसकी अल्प मात्रा सूत्रकणिकाओं (mitochondria) व

क्लोरोप्लास्ट में भी विद्यमान होती है। RNA प्रायः कोशिकाद्रव्य में पाया जाता है। DNA व RNA की संरचनाएं बहुलकी होती हैं, जो कि न्यूक्लिओटाइडों द्वारा विशेष प्रकार की शृंखलाओं से जुड़ी होती हैं। परन्तु RNA की भांति DNA का अणु एक ही सर्पिल आकार वाली शृंखला से नहीं, अपितु एक-दूसरे से कड़ी की भांति जुड़ी 20 Å मोटाई वाली दो सर्पिल आकार की शृंखलाओं से बना होता है। DNA की लम्बाई सैकड़ों माइक्रोमीटर तक हो सकती है।

यहां हम न्यूक्लीक अम्लों की संरचना तथा न्यूक्लिओटाइडों के जुड़ने की संरचना व क्रियाविधि का और दुगुना होने की क्रिया का विस्तृत वर्णन न करते हुए केवल यह बताना चाहेंगे कि DNA का एक अंश—जीन आनुवंशिकता की प्रारम्भिक इकाई है। जीनों के समूहन में जीव की विशेषताओं की सूचना निहित होती है और प्रत्येक जीन कोशिका की एक प्रोटीन की संरचना निर्धारित करता है। पृथ्वी पर विद्यमान सभी जीवों की आनुवंशिकता न्यूक्लिओटाइड जीनों के क्रम में निहित है। जहां तक RNA का प्रश्न है, तो वे प्रोटीनों के संश्लेषण में भाग लेते हैं। उनकी स्थिति के अनुसार अथवा उनके कार्यों की प्रकृति के अनुसार, उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है—वाहक, सूचक व राइबोसोम। दोनों न्यूक्लीक अम्लों के कार्य इसी प्रकार से सम्पूर्ण जैव-जगत में बंटे हुए हैं। सबसे प्राचीन जीवाणु कवकद्रव्य (mycoplasm), रिकेट्सिआ (rickettsia) व अमीबा से लेकर उच्च कोटि की वनस्पतियां व मनुष्यों तक—इस विश्व के सब वासियों की कोशिकाओं में हमेशा DNA की दो शृंखलाएं व RNA की एक शृंखला विद्यमान होती हैं।

परन्तु विषाणुओं की संरचना व रासायनिक संयोजन पर किये विभिन्न शोधकार्यों के परिणामों से यह प्रमाणित हुआ है कि विषाणु-कण (virion) में सदा केवल एक प्रकार का न्यूक्लीक अम्ल विद्यमान रहता है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि विषाणु DNA की एक शृंखला होने पर भी भली-भांति जीवित रहते हैं। यहां तक कि

विषाणुओं का बड़ा ग्रुप राइबोविषाणु (ribovirus) केवल RNA (एक या दो शृंखला) से युक्त होता है ।

वर्गीकरण की समस्याएं. जिस पदार्थ पर वैज्ञानिक शोधकार्य कर रहे हों उसका उसी ग्रुप के अन्य पदार्थों के बीच कौन सा स्थान है, यह जानना वैज्ञानिकों के लिए अनिवार्य है । वर्गीकरण का अर्थ है—सामान्य गुणों के आधार पर समूहीकरण । वर्गीकरण के फलस्वरूप समय, शक्ति व साधनों की बचत होती है। एक विषाणु के रहस्य को जानने से उसकी किसी बीमारी से सुरक्षा के उपाय ढूंढ़ने के बाद, इसका लाभ अन्य इसी प्रकार के विषाणुओं के अध्ययन या इसी प्रकार की बीमारियों से बचाव के लिए उठाया जा सकता है ।

विषाणु-विज्ञान का बड़ी तेजी से विकास हो रहा है, जिसके परिणामस्वरूप नयी-नयी बातें सामने आ रही हैं । ये खोजें विषाणुओं के वर्गीकरण के नियमों को एक नया रूप देने को विवश करती हैं । सबसे साधारण वर्गीकरण के आधार में वे पदार्थ हैं जिनको विषाणु रोगग्रस्त कर देते हैं जैसे जीवाणुभोजी (bacteriophage) अर्थात वे विषाणु जो. जीवाणुओं को रोगी बना देते हैं, सरलतम जीवों के विषाणु, वनस्पति-विषाणु, जन्तु-विषाणु, आदि । ये सब भी क्रम से वर्गों में बांटे जाते हैं । उदाहरण के लिए, जन्तुओं के विषाणुओं का विभाजन मनुष्य के विषाणु, बंदरों व कृन्तकों के विषाणु में किया जाता है । इस प्रकार के वर्गीकरण की सोपाधिकता स्पष्ट है—कई विषाणु अलग-अलग प्रकार के स्वामियों को रोगग्रस्त बना सकते हैं ।

विषाणुओं का विभाजन उनके द्वारा फैलायी जाने वाली बीमारियों के लक्षणों के आधार पर भी किया जाता है । आम चिकित्सकों व पशु-चिकित्सकों के लिए श्वसन रोगों के विषाणुओं का एक ग्रुप में वर्गीकरण करना बहुत उपयोगी है, अर्थात उन विषाणुओं का जो गले व नाक को रोगग्रस्त बना देते हैं—एंसेफलाइटिस (encephalitis) विषाणु, ज्वर

विषाणु, आदि, हालांकि यह सर्वविदित है कि अलग-अलग प्रकार के विषाणु मिलते-जुलते रोग-लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं, तथा इसके विपरीत, एक प्रकार का विषाणु विभिन्न प्रकार की बीमारियां फैला सकता है।

विषाणुओं की रासायनिक संरचना पर किये गये विभिन्न शोधकार्यों के परिणामस्वरूप अब विषाणुओं का और सही वैज्ञानिक वर्गीकरण किया गया है। उनका विभाजन न्यूक्लीक अम्ल की प्रकृति के आधार पर किया जाता है : DNA डेसऑक्सी विषाणु में व RNA राइबो विषाणु में विद्यमान होता है। फिर इन ग्रुपों को कैप्सिडों की जातियों के आधार पर उपग्रुपों में विभाजित किया जाता है : समसितीय (isometric) कैप्सिडों वाले विषाणु, सर्पिल कैप्सिडों वाले विषाणु या मिश्रित कैप्सिडों वाले विषाणु। यहां ये विषाणु बाहरी आवरण की उपस्थिति या अनुपस्थिति के आधार पर पुनः वर्गीकृत किये जाते हैं। जीवों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुणों—न्यूक्लीक अम्लों—के आधार पर, इस प्रकार के वर्गीकरण द्वारा (अगर विषाणु का अध्ययन भली-भांति किया गया है) प्रत्येक विषाणु का स्थान व महत्व जाना जा सकता है।

ऊपर दिये गये वर्गीकरण गिने-चुने गुणों पर आधारित हैं। विषाणु विभिन्न स्थितियों में विभिन्न गुणों के कारण एक-दूसरे से काफी भिन्न होते हैं। उदाहरणतया, संक्रामक विषाणुओं से युद्ध करने के लिए उनका निम्न गुणों के आधार पर वर्गीकरण किया जाना अत्यन्त महत्वपूर्ण है : विभिन्न रासायनिक तत्त्वों के प्रति उनकी सुग्राहिता, ऊष्मा व अम्लता के प्रति संवेदनशीलता, आदि। मुर्गी के विकासमान भ्रूण या एन्थ्रोपाड्डिया या नाभिक, साइटोप्लाज्म में विषाणु भिन्न प्रकार से प्रजनित होते हैं।

वैज्ञानिकों के मतानुसार अभी तक ज्ञात सभी वर्गीकरणों में कोई भी पूर्णतः विश्वस्त व अंतिम नहीं माना जा सकता। इस बात में कोई संदेह नहीं कि विषाणुओं के और भी नये गुणों का भविष्य में पता चलेगा जिनकी सहायता से विषाणुओं की सारणी निश्चय ही बढ़ेगी, तथा हो सकता है कि उनके बल पर नया वर्गीकरण ही सम्भव हो जाये।

कोशिका में विषाणु

पिछले अध्याय में जीव के बाहर स्थित विषाणुओं का वर्णन किया गया है : लातीनी भाषा में इस स्थिति को in vitro कहते हैं। अगर उद्दीपक जीव में उपस्थित है, तो इस स्थिति को in vivo कहते हैं। विषाणु-कणों का अध्ययन करने हेतु विषाणुओं को उनके जीवन के लिए अति आवश्यक परिवेश से पृथक करना पड़ता है जिससे उनका प्रजनन रुक जाता है। यह भी सच है कि कभी-कभी ऐसे तरीके भी अपनाये जाते हैं कि पृथक्करण के पश्चात भी विषाणु जीवित रहते हैं, उनका संक्रामक गुण भी बना रहता है और अगर उनको अनुकूल वातावरण मिल जाये, तो वे तुरन्त आक्रमण करना आरम्भ कर देते हैं। पर फिर भी, इलेक्ट्रॉनी सूक्ष्मदर्शी में केवल "मृत", या और सही कहा जाये तो विषाणु-प्रसाधनों का ही अध्ययन किया जाता है।

प्रकृति के इस जगत के प्राणियों से पूर्णतः परिचित होने के लिए, शुद्ध विषाणुओं का दृश्य-प्रेक्षण ही पर्याप्त नहीं है। विषाणु जब कोशिका में प्रवेश करता है—तभी वह जीवित रह सकता है तथा विनाशकारी कार्य कर पाता है। विषाणु के जीवन की प्रमुख घटनाएं कोशिका-स्तर पर होती हैं, पर दुर्भाग्यवश वे देखी नहीं जा सकतीं। फिर भी, वैज्ञानिकों को इन सम्बद्ध घटनाओं की प्रकृति को समझने में सफलता मिल गयी है। पूर्ण चित्र, प्रक्रिया के अलग-अलग क्षणों पर खींचे गये चित्रों में मिलता है। कोशिका का बहुत महीन उच्छेदन करके ही विषाणु-कणों को अपना घातक कार्य करते समय पकड़ा जा सकता है। प्रति-

रक्षात्मक क्रियाओं, कोशिकाविज्ञानी विधियों, चिह्नित परमाणुओं की सहायता से तथा विषाणु-कणों की सक्रियता निश्चित करने की विधि द्वारा, विशेष प्रकार के कणों वाले विषाणुओं के रहने का स्थान ढूंढ़ा जा सकता है। कोशिका के साथ पारस्परिक क्रिया करने के लिए विषाणु-घटकों को एक नये रूप में आना चाहिए। यह पारस्परिक क्रिया विभिन्न प्रकार से घटित हो सकती है। विषाणुओं की उत्पत्ति व संख्या अत्यधिक तेजी से बढ़ सकती है, जिससे कोशिका नष्ट हो जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि विषाणु व कोशिका के बीच एक दृढ़ सम्बन्ध बन जाये व कोशिका जीवित रहे। कोशिका पर आक्रमण करते समय विषाणु पूर्णतः नष्ट भी हो जा सकता है।
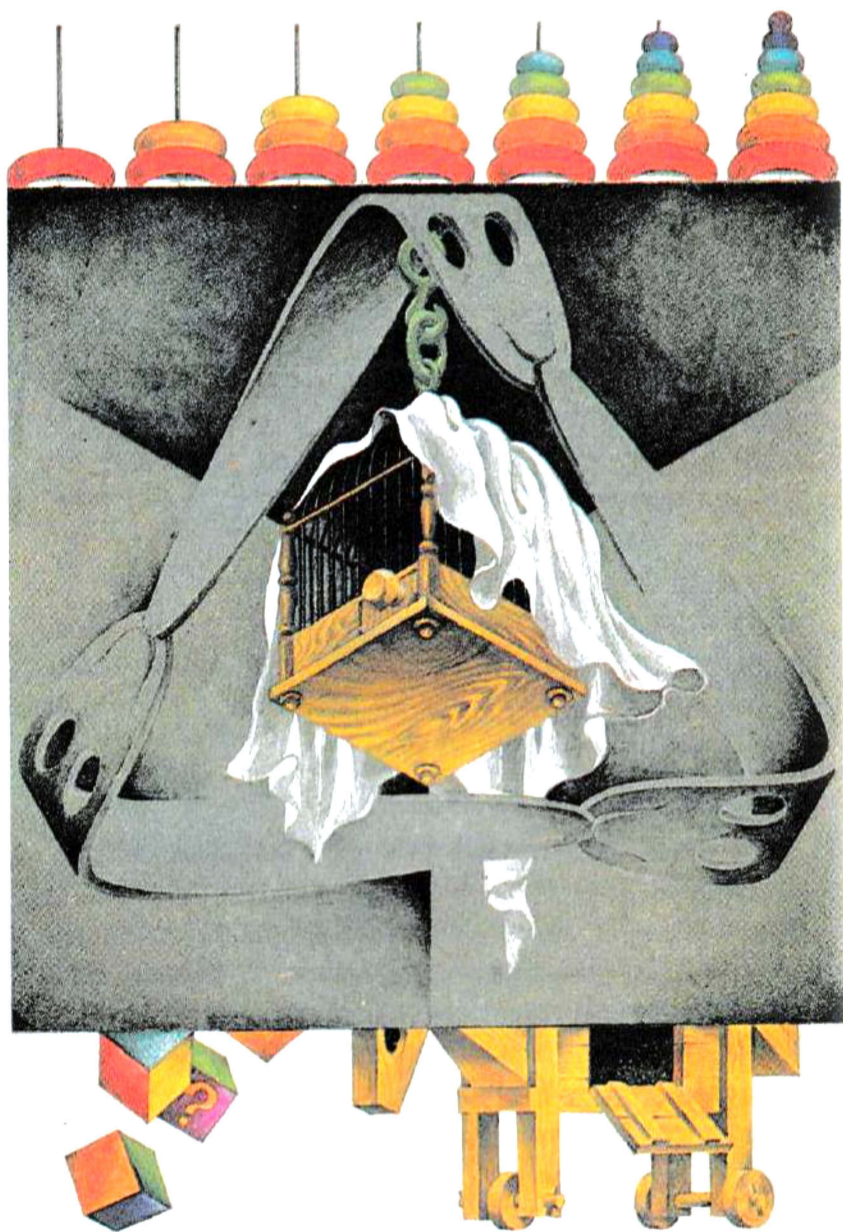
विषाणु के कार्य करने का स्थान. विषाणु के अस्तित्व के लिए कोशिका का होना परम आवश्यक है। कोशिका के बिना वह जीवित नहीं रह सकता। स्कूल के हर बच्चे को कोशिकाओं का यह जैव गुण ज्ञात है। इंगलैंड के निवासी आर. हूक ने सन 1665 में "कोशिका" नाम प्रस्तावित किया, पर इसके अध्ययन का कार्य केवल उन्नीसवीं शताब्दी में ही विधिवत् आरम्भ हुआ। कोशिका का विस्तृत अध्ययन इलेक्ट्रॉनी सूक्ष्मदर्शी की सहायता से सम्भव हुआ। जीवित पदार्थों के अध्ययन के लिए रासायनिक—और अगर बिल्कुल ठीक कहा जाये तो जैव-रासायनिक—विधियों को प्रयुक्त किया जाता है।

कोशिकाएं विभिन्न जीवों या अंगों (जीवाणु, मछली के अंडे, रक्ताणु, स्नायुओं, आदि) में रह सकती हैं; वे स्वतंत्र जीवों के (सरलतम) रूप में भी हो सकती हैं। ऐसे गुणों के बावजूद उनकी संरचनाओं व क्रियाओं में काफी समानता है। कोशिका दीवारों व कोशिकाद्रव्य की झिल्ली के अतिरिक्त, प्रत्येक कोशिका में एक नाभिक व कोशिकाद्रव्य भी होता है; पर बहुनाभिकीय कोशिकाएं भी पायी जाती हैं, जैसे यकृत में, पेशियों में, आदि। अधिकांश कोशिकाओं के जीवन-चक्र को दो अंतरालों में बांटा जा सकता है।

विभाजन के समय दो पुत्री-कोशिकाएं बनती हैं। दूसरा अन्तराल है—विभाजनों के बीच की मध्यवर्ती अवस्था का। इस समय कोशिका के नाभिक में नाभिक आवरण, नाभिक रस, केंद्रक, क्रोमैटिन, आदि, को पाया जा सकता है। RNA तथा प्रोटीन केंद्रक में एकत्रित होते हैं तथा RNA का संश्लेषण भी वहीं होता है। DNA क्रोमोसोम में रहता है।

कोशिकाओं के जीवनकाल की अवधि कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों तक की हो सकती है (जीवाणु, खमीर)। बहुकोशिकीय जीवों में ऐसी कोशिकाएं भी पायी जाती हैं, जिनकी जीवन-अवधि सप्ताहों की होती है (स्नायु की कोशिकाएं)।

कोशिका के सभी भाग पारस्परिक क्रिया में संलग्न रहते हैं। नाभिक के अलग हो जाने पर कोशिका मृत हो जाती है। अगर किसी कारणवश पुत्री-कोशिका में क्रोमोसोमों की संख्या माता-कोशिका में क्रोमोसोमों की संख्या से कम या अधिक हो जाती है, तो उनकी स्थिति व आकार में परिवर्तन आ जाता है—कोशिका का जीवन-कार्य भंग हो जाता है जिसके कारण उसकी मृत्यु हो सकती है।

छोटी-मोटी क्षति, जैसे बाहरी झिल्ली का एक स्थान से फट जाना, या कोशिकाद्रव्य के किसी भाग की क्षति, आदि, को कोशिकांगक (organoid) की सहायता से पूरा किया जा सकता है। पर अगर ज्यादा क्षति हो जाये—जैसे कि नाभिक व कोशिकाद्रव्य के कोशिकांगों की जीवनक्रिया भंग हो जाये—तो कोशिका मृतक हो जाती है।

कोशिकाओं का कारखाना. विषाणुओं पर विभिन्न प्रकार के शोधकार्य करने के लिए कोशिकाओं का जीवित रहना अत्यंत आवश्यक है। अगर वनस्पतियों के विषाणुओं का अध्ययन करना हो, या उनका प्रजनन कराना हो, तो ऐसे पौधों को रोगग्रस्त कराते हैं जो सुग्राही होते हैं। पौधों का विकास होता जाता है व उनमें विषाणुओं की संख्या

बढ़ती जाती है । पर जंतुओं तथा मनुष्यों के विषाणुओं पर कार्य करना काफी कठिन है ।

मनुष्यों पर और बहुत से जंतुओं पर प्रयोग किये भी तो नहीं जा सकते । इसके लिए कृत्रिम परिवेश की आवश्यकता पड़ती है । कठिनाई यह है कि जिस जीव में कोशिकाएं होती हैं, वह उनका अस्तित्व बनाये रखने के लिए एक विशेष प्रकार के नियंत्रक तंत्र से युक्त होता है । आधुनिक तकनीक का इतना अधिक विकास होने पर भी इस प्रकार की परिस्थितियों को उत्पन्न करना बहुत कठिन कार्य है ।

पोषक परिवेश की संरचना को निश्चित करने से पहले ही आवश्यक तापमान की सीमा स्थिर की गयी, संवर्धित कोशिकाओं के जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों का प्रबंध किया गया—जैसे अनुर्वरीकरण, आदि—तथा विषाणुओं के जनन व पृथक्करण के लिए मुर्गी के अंडे प्रयुक्त किये गये । सभी विषाणु तो नहीं, पर हां कुछ विषाणुओं का इन अवस्थाओं में प्रजनन अवश्य हुआ । उनकी संख्या करोड़ों तक पहुंच गयी । पर प्रजनन की इस विधि में बहुत सारी त्रुटियां हैं ।

वैज्ञानिक बहुत वर्षों तक जीवित जैव के बिना कोशिका उत्पन्न करने में एक के बाद दूसरी आ रही कठिनाइयों का समाधान ढूंढने में लगे रहे । इन प्रयासों के परिणामस्वरूप उनको चपटे, निर्जमित पात्रों में कोशिकाओं को उत्पन्न करने की विधि ढूंढ निकालने में सफलता मिली । इस विधि (**ऊतक संवर्ध विधि**) के अनुसार, सर्वप्रथम कोशिकाओं को जंतुओं के जीवित ऊतकों से पृथक किया जाता है । उनको साफ करने के पश्चात पोषक विलयन सहित पात्र के तल में डाल देते हैं । इस प्रकार जब पात्र कोशिकाओं से पूरा-पूरा भर जाता है, तो उनका कुछ भाग नये पात्रों में उलट देते हैं जहां कोशिकाओं की नयी पीढ़ी जन्म लेती है ।

विषाणु-वैज्ञानिकों व अन्य विशेषज्ञों की कोशिकाओं के प्रजनन में अत्यधिक रुचि है, इसलिए व्यापारिक रूप से उनके उत्पादन की विधि

को ढूंढ़ा गया है। एक स्वचालित जटिल उपकरण—रिऐक्टर—कोशिकाओं के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियां बनाये रखता है। रिऐक्टर में कोशिकाओं को निलंबित अवस्था में उत्पादित किया जाता है जिसके फलस्वरूप उनका उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जा सका है।

विज्ञान में किये गये प्रयोगों के परिणामों के दुहराये जाने की क्षमता भी महत्वपूर्ण है। समान परिस्थितियों में समान प्रयोगों के परिणाम भी समान होने चाहिए। पर यदि निर्जीव प्रकृति (धातु, पत्थर, इंधन, आदि) के साथ काम करने वाले वैज्ञानिक के लिए समान गुण वाले नमूने एक महीने बाद भी ढूंढ़ लेना कठिन नहीं है, तो सजीव नमूने इसी अवधि में इतने बदल जा सकते हैं कि उन्हें पहचानना भी कठिन हो जाये। यहां तक कि समान समय में समान नाम वाली कोशिकाएं भी भिन्न हो सकती हैं : सामान्य, पुनर्योजित, संकर, आदि। वैज्ञानिकों के लिए यह बात बहुत महत्व रखती है कि एक विशेष कोशिका से रिऐक्टर में उत्पन्न सभी कोशिकाएं समजातीय होती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि समजातीय कोशिकाओं पर प्रयोग विभिन्न देशों में, विभिन्न महाद्वीपों में, यहां तक कि अंतरिक्ष में भी, किये जा सकते हैं। वास्तव में, सन् 1975 में अंतरिक्ष स्टेशन "साल्यूत-4" पर अन्य जीवविज्ञानी शोधकार्यों के साथ-साथ, हैम्स्टर की कोशिकाओं का भी प्रेक्षण किया गया। प्रयोगों के लिए आवश्यक कोशिकाओं को सोवियत विज्ञान-अकादमी के कोशिका-विज्ञान-संस्थान से प्राप्त किया जा सकता है जहां वनस्पतियों, जंतुओं तथा मनुष्यों की कोशिकाओं को शुद्ध रूप में प्रजनित किया जाता है।

अधिचूषण. जंतुओं की कोशिकाएं कई प्रकार के विषाणुओं का अधिचूषण करने की प्रवृत्ति रखती हैं। सम्भवतः इसका कारण है—आयनित ग्रुपों की पारस्परिक प्रक्रिया। यह प्रक्रिया पूर्णतः निश्चित नहीं की जा सकी है। पर यह जानते हुए कि कोशिकाएं द्रव की छोटी-छोटी

बूंदों को ग्रस्त करने की क्षमता रखती हैं, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विषाणु-कण भी ऐसे ही ग्रस्त किये जाते हैं जिससे वे बुलबुलों के कोशिकाद्रव्य में पहुंच जाते हैं। यहां यह बात महत्वपूर्ण है कि कोई विशेष विषाणु केवल सीमित प्रकार की कोशिकाओं से ही अधिचूषित हो सकता है। उदाहरणतया, पोलियोमायेलिटिस के विषाणु का अधि-चूषण केवल प्राइमेट (बंदरों, आदि, श्रेणी के जीवों) की कुछ कोशिकाओं द्वारा होता है। कुछ ऐसे जीवाणुभोजी होते हैं जिनका अधिचूषण केवल सूक्ष्मजीवों के कुछ विशिष्ट उत्परिवर्तों (mutants) द्वारा ही होता है। वह भी केवल पुरुष-कोशिका पर या केवल स्त्री-कोशिका पर—अर्थात, यह कोशिका के लिंग पर भी निर्भर करता है। अतः, कोशिका पर विषाणु का अधिचूषण एक अतिविशेष कार्य होता है।

प्रत्येक कोशिका में अधिचूषण की शक्ति बहुत अधिक होती है। तो भी, वह विषाणु-कणों का अधिचूषण सीमित संख्या में करती है। उदाहरणतया, जीवाणु की एक कोशिका में लगभग 300 जीवाणुभोजी कण एकत्रित होते हैं। वास्तविक गणना करने से यह पता चला कि कोशिका की समस्त ऊपरी सतह जीवाणुभोजियों से भरी होती है।

विषाणु-कणों का कोशिका की ऊपरी सतह पर जमना, उनके आकस्मिक ढंग से टकराने के परिणामस्वरूप होता है। पर यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि टकराने की प्रत्येक क्रिया के बाद वे सतह पर जम ही जायें।

कोशिका की ऊपरी सतह में विशेष प्रकार के ग्राही (receptor) भी होते हैं, जिनकी सहायता से विषाणु उनसे जुड़े रहते हैं। कुछ अव-स्थाओं में ये कोशिकीय ग्राही विशिष्ट आकारिकीय (morphological) संरचनाओं में केन्द्रित होते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ जीवाणुभोजी केवल स्वामी कोशिका के पक्षभागों में ही जुड़ते हैं। वे विषाणु, जो पड़ोसी भाग से स्पष्ट आकारिकीय भिन्नता नहीं रखते, वे ही अधिकांश स्थितियों में कोशिका की सतह के ऊपरी भागों से जुड़ते हैं।

विषाणु-कण केवल एक विशेष कोशिकीय ग्राही के साथ ही सफलता-पूर्वक प्रक्रिया कर सकता है।

इस प्रकार, विषाणु व कोशिका की पारस्परिक प्रक्रिया का प्रथम चरण विषाणु व कोशिकीय ग्राहियों के बीच होने वाली क्रिया है। विषाणु की, कोशिका में रोग फैलाने की क्षमता के कारणों में से एक प्रमुख कारण उसमें ग्राही की उपस्थिति है।

कोशिका पायन. जंतुओं की कोशिकाओं की बनावट विशेष प्रकार की होती है। यह बनावट विषाणु के कोशिका में प्रवेश करते समय एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसका सार यह है कि कोशिका अपने चारों ओर के माध्यम की बूंदों को "पी जाती है"। अगर विषाणु झिल्ली के ऊपर स्थित है, या स्वतंत्र अवस्था में कोशिका के चारों ओर भरे द्रव में स्थित है, तो कोशिका-पायन के परिणामस्वरूप वह कोशिका के अन्दर प्रवेश कर जाता है।

जब विषाणु-कण कोशिका की ऊपरी सतह पर या कोशिकाद्रव्य के कैप्स्यूल में आ जाता है, तो विषाणु द्वारा कोशिका में रोग फैलाने की प्रक्रिया का दूसरा चरण आरम्भ होता है। इस समय विषाणु के कण में परिवर्तन की क्रिया होती है। उदाहरणतया, कुछ विषाणुभोजियों में यह परिवर्तन विषाणु-कण के कुछ घटकों में होता है—उपांगों के प्रोटीनों में। कई बार कोशिकीय किण्व (ferment) की प्रक्रिया के फलस्वरूप, विषाणु-कण पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है।

विषाणु एक कोशिका से दूसरी में अत्यंत सूक्ष्म नालियों द्वारा आते हैं; वे कोशिकारहित माध्यम में नहीं जाते, जहां उनका सामना उनके लिए घातक प्रतिकाय से हो सकता है।

विषाणु आवरण को फेंक देता है. कोशिका में प्रवेश करने के पश्चात, विषाणु या यो स्पष्ट रूप से गंभीर संक्रमण उत्पन्न कर सकता है या गुप्त संक्रमण।

प्रथम स्थिति में, कोशिका विषाणु का सामना नहीं कर पाती है तथा संक्रमित होकर मृत हो जाती है। दूसरी स्थिति में, बहुत समय तक कोशिका में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं दिखायी देते। वे केवल विशेष परिस्थितियों में बहुत बाद में स्पष्ट होते हैं।

विषाणु का मुख्य काम है कोशिका में घुसना, आवरण को फेंकना — जिससे कोशिका के अन्दर उसका केवल न्यूक्लीक अम्ल रह जाये। कुछ विषाणु-कण, कोशिका के उनको ग्रहण करते समय ही, आवरण फेंकने में सक्षम होते हैं। चेचक वैक्सीन व परिसर्प (herpes) के आनुवंशिक तत्त्व इसी प्रकार कोशिका में प्रवेश करते हैं। पर कैप्सिड जितने अधिक जटिल होंगे, उनके न्यूक्लीक अम्ल को अलग करने में उतना ही अधिक समय लगेगा। कोशिकाएं विषाणुओं का स्वागत करती हैं व पृथक्करण प्रोटीन तैयार करती हैं। सदियों से चली आ रही विकास की प्रक्रिया में उत्पन्न अनुकूलन-क्षमता के अनुसार, यह प्रक्रिया कोशिकाओं द्वारा अपने पोषण के लिए आवश्यक कणों के अवचूषण व विलयीकरण के परिणामस्वरूप घटती है। कोशिका आवश्यक कणों के विलयीकरण के लिए ही तो विशेष किण्व बनाती है। अगर कोशिका विलायक का समायोजन कर लेती है, तो कैप्सिड नष्ट हो जाता है तथा उससे निकला न्यूक्लीक अम्ल स्वामी को नष्ट करने का कार्य आरम्भ कर देता है।

जीवाणुभोजी अपना कार्य आरम्भ करता है. ग्रीक शब्द phagos का अर्थ है "भोजी"। इसका अर्थ यह हुआ कि जीवाणुभोजी जीवाणुओं को अपना भोजन बनाता है। पर इससे पूर्व कि विषाणु जीवाणुओं को मार सके, उसका उनमें संक्रमित होना आवश्यक है। पर विषाणु जीवाणु की ठोस दीवार में कैसे प्रवेश कर पाता है जबकि कोई भी कीट इसकी शुक्तिका को भेदने का प्रयास तक नहीं करता तथा दीवार खुद भी कणों का चूषण नहीं करती है? न्यूक्लीक अम्ल भी कैसे आवरण से स्वतंत्र हो सकता है, अगर जीवाणु-कोशिकाएं विलायक ही नहीं बनाती हैं?

यह संभव है कि जीवाणु का शत्रु—जीवाणुभोजी—कुछ विशेष अंगों से युक्त होता है तथा किसी विशेष विधि से आवरण को तोड़ देता है। आइए, यहां जीवाणुभोजी T_4 की दिलचस्प रचना को याद करें। यही वह जीवाणुभोजी है, जो जीवाणुओं का भोजन करने में समर्थ होता है। विषाणु सूत्रों की सहायता से आवरण के साथ चिपक जाता है तथा उपांग की पूंछ दीवार पर टिक जाती है। पूंछ ऐडेनोसिन ट्राइ-फॉस्फेट (ATP) अम्ल से युक्त होती है। यही अम्ल जंतुओं की पेशियों को सिकुड़ने की शक्ति प्रदान करता है। जब ये अणु फॉस्फेट ग्रुप को खो बैठते हैं, तो पूंछ सिकुड़ जाती है और आवरण को तोड़ देती है। इस प्रकार, विषाणु के लिए कोशिका के न्यूक्लीक अम्ल में प्रवेश करने में कोई बाधा नहीं रह जाती। जीवाणुभोजी का कैप्सिड सिकुडता है व DNA कोशिका के अन्दर पहुंच जाता है। इस प्रकार संक्रमण-कार्य पूर्ण हो जाता है। जीवाणुभोजी का गिलाफ इंजेक्शन की भूमिका निभाते हुए न्यूक्लीक अम्ल से मुक्त हो जाता है तथा आगे होने वाली प्रक्रियाओं में कोई भाग नहीं लेता। इसके विपरीत DNA आवरण से स्वतंत्र होकर तुरन्त अपना कार्य आरम्भ कर देता है।

पुनरावृत्ति. विषाणुओं का प्रजनन या उनकी पुनरावृत्ति एक विशेष प्रक्रिया है जो प्रकृति के इस विशिष्ट जगत के वासियों के लिए ही अभिलाक्षणिक है। सर्वविदित है कि वनस्पति व जंतु-जगत के जीवों का विकास कोशिकाओं के विभाजन के बिना असंभव है। वास्तव में विषाणु आकार में नहीं बढ़ता है। एक विशेष प्रक्रिया के फलस्वरूप विषाणु-कण तुरन्त वयस्क हो जाते हैं। इस क्रिया को पुनरावृत्ति (replication) क्रिया कहते हैं। यहां सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि नये विषाणु-कणों की उत्पत्ति में केवल एक ही सूत्र भाग लेता है : न्यूक्लीक अम्ल की एकल कड़ी।

आइए, जीवाणु की कोशिका में घुसे जीवाणुभोजी के न्यूक्लीक
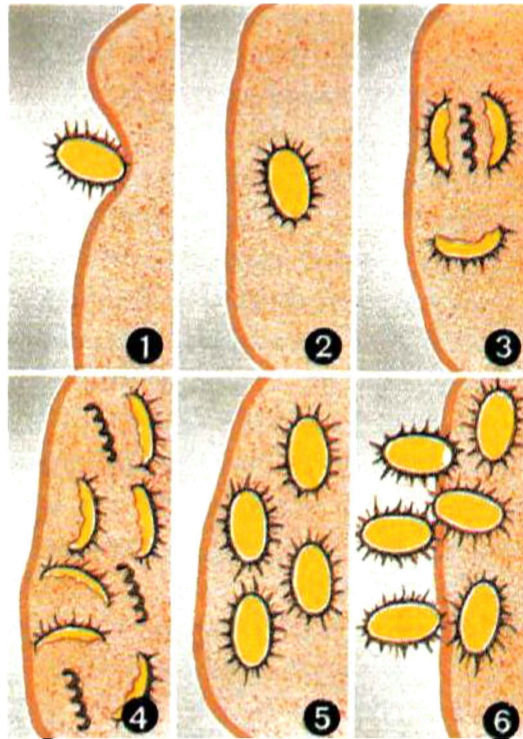
चेचक के विषाणु का जीवन-चक्र :

1. आवरण से जुड़ना,
2. कोशिकाद्रव्य में प्रवेश,
3. "आवरण उतारना",
4. नये विषाणुओं के डेसॉक्सीराइबोन्यूक्लीक अम्लों व प्रोटीनों का संश्लेषण,
5. पुत्री-विरिओनों को इकट्ठा करना,
6. बाहर निकलना।

अम्ल को देखें । DNA का प्रथम कार्य स्वामी-कोशिका के जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों को रोकना है । इसके बाद विशेष प्रकार के पदार्थों—किण्वों—का निर्माण-कार्य आरम्भ हो जाता है जो कि DNA के उसी प्रकार के अणु बनाने में लगते हैं, जैसे कि जीवाणुभोजी के पास थे । लगभग 8 मिनट पश्चात, किण्वों के निर्माण की क्रिया मंद हो जाती है तथा कैप्सिडों के लिए प्रोटीनों का बनना शुरू हो जाता है । न्यूक्लीक आनुवंशिकता अम्ल की कड़ियों के निर्माण-कार्य में, किण्वों के अतिरिक्त, जीवाणुभोजी के जनक DNA व स्वामी DNA के खण्डित अंग भी भाग लेते हैं । नये जीवाणुभोजियों के कैप्सिडों का निर्माण नये प्रोटीनों से होता है । नष्ट हुई कोशिका व पुराने जीवाणुभोजी के प्रोटीनों का कुछ भाग भी इसमें कार्यरत रहता है ।

संक्रमण-क्रिया के लगभग 15 मिनट बाद जीवाणु की कोशिका में इतने अधिक विषाणु-कण बन जाते हैं कि उसमें जगह नहीं बच पाती । वे स्वामी के आवरण को नष्ट कर देते हैं व बाहर आकर जीवाणु की नयी कोशिकाओं को संक्रमित करते हैं ।

विषाणुओं के प्रजनन की तुलना एक फैक्टरी की कन्वेयर बेल्ट से की जा सकती है जो कि पूर्वनिश्चित तकनीकी विधि के अनुसार कार्य करती है । सर्वप्रथम DNA के नेतृत्व में निश्चित पुर्जों का निर्माण होता है । फिर DNA अपने गोलक के प्रोटीनों व केन्द्रिका का निर्माण करता है । इस केन्द्रिका (nucleolus) के चारों ओर स्थिर वैद्युत बल के कारण प्रोटीन एकत्रित होते हैं । जब गोलक के सिर का निर्माण समाप्त हो जाता है, तो केन्द्रिका नष्ट हो जाती है । इस प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण क्षणों में एक है—गोलक का DNA कड़ियों से भर जाना । इस समय प्रमुख कन्वेयर में समुच्चय प्लांट के विभिन्न भागों से जीवाणु-भोजी के आवश्यक पुर्जे पहुंचाये जाते हैं जैसे शैफ्ट, सिकुड़ने का कार्य कराने वाले छल्ले, झिल्लियां, सूत्र, आदि । ये सब पुर्जे गोलक में एक-दूसरे के साथ जोड़ दिये जाते हैं ।
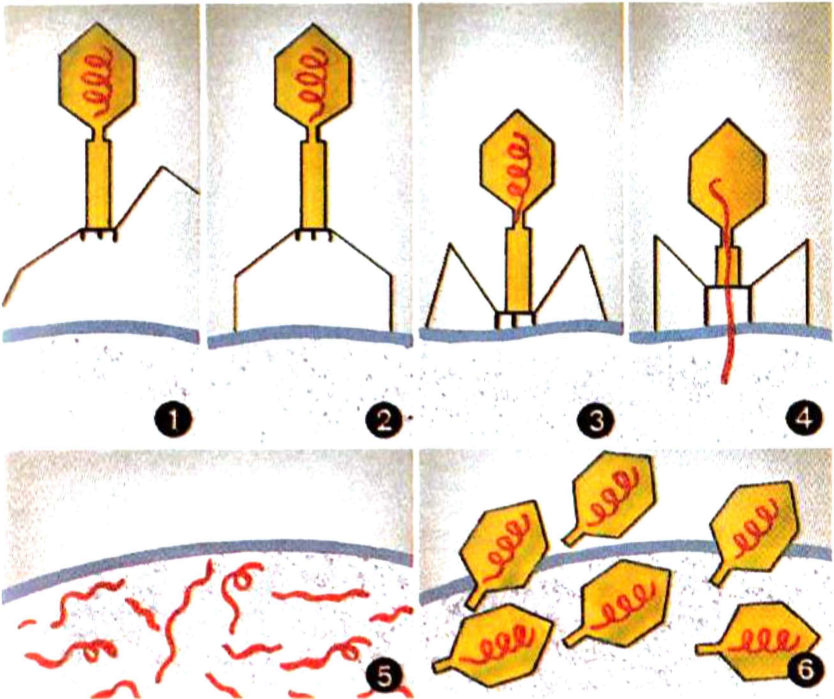
जीवाणुभोजी का जीवन-चक्र।

यह बात रोचक है कि विषाणु के निर्माण की सारी कार्यवाही इससे भी कहीं अधिक जटिल जीव की उत्पत्ति व विकास से मिलती-जुलती है। क्या यह सम्भव नहीं कि ये विधियां विषाणु-जगत से ही ली गयी हों ?

प्रसंगवश, विभिन्न प्रकार के विषाणुओं के प्रजनन की तकनीकी विधियों में भाग लेने वाली प्रक्रियाएं समान ही नहीं होतीं, बल्कि कुछ विशेषताएं भी रखती हैं। उदाहरणतया, चेचक के विषाणुओं का प्रजनन कोशिकाद्रव्य में होता है और परिसर्प विषाणुओं व ग्रंथि विषाणुओं का
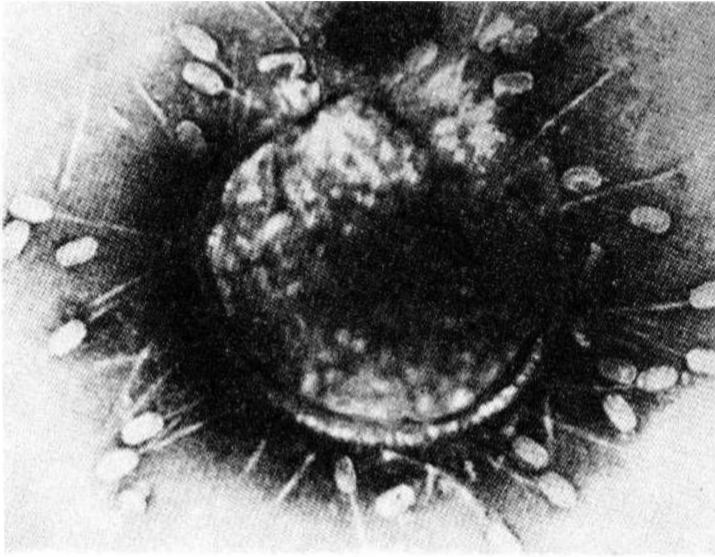
जीवाणु-कोशिका पर आक्रमण करने वाले भोजियां T4 का इलेक्ट्रो-निक सूक्ष्मचित्र ।

नाभिक में होता है । न्यूक्लीक अम्लों के निर्माण की प्रक्रिया में स्वामी-कोशिका के खंडित तंत्र भी भाग लेते हैं । अतः चेचक व ग्रंथि विषाणुओं को अपने कार्य के लिए विभिन्न प्रकार के निर्माण-पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है । ये विषाणु विशाल विषाणुओं की श्रेणी में आते हैं । उदाहरणतया, चेचक वैक्सीन विषाणु के DNA के एक अणु में प्रोटीनों की संख्या लगभग 500 होती है । प्रजनन चक्र 20 घंटे से अधिक चलता है । यह कल्पना की जा सकती है कि विषाणु के प्रजनन की प्रक्रिया पर नियंत्रण करना कितना अधिक कठिन है । और अगर निर्माण-कार्य के क्रम में जरा-सी भी त्रुटि हो जाये, तो विषाणु का स्वनिर्माण रुक जायेगा । प्रजनन-प्रक्रिया में यह सबसे कमजोर क्षण है ।

RNA की रैखिक संरचना के अणु वाले सरलतम विषाणु भी पाये

जाते हैं—वनस्पतियों, जीवाणुओं व जंतुओं के पिकोनोविषाणु (piconovirus), जैसे पोलियोमायेलिटिस, इन्सेफैलोमिओकार्डिट व अंखुर के विषाणु, आदि। ये विषाणु विशेष प्रकार के साधनों से युक्त होते हैं जो स्वामी RNA को, प्रोटीन के संश्लेषण की जगह अपने समान न्यूक्लीक अम्ल के संश्लेषण के लिए बाध्य करते हैं। इस ग्रुप के विषाणुओं के कणों के निर्माण के लिए आवरण के प्रोटीन की अधिक मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। इतनी साधारण-सी संरचना होते हुए भी, इस प्रकार के विषाणुओं के RNA में 1100 तक ऐमिनो अम्ल विद्यमान होते हैं जिसके कारण निर्माण-कार्य के समय पुर्जों के क्रम की ओर ध्यान देना अति आवश्यक है।

जैसे ही न्यूक्लीक अम्ल व प्रोटीन की आवश्यक मात्रा जमा हो जाती है, साधारण विषाणुओं का निर्माण स्वतः हो जाता है। यह क्रिया विस्फोट की सी तेजी से होती है। जंतुओं के विषाणु की संतति पूर्णतः विकसित होने की दशा तक कोशिका में ही रहती है। एक कोशिका के टूटने से पूर्व उसमें 10 000 तक कण जमा हो सकते हैं। पोलियोमायेलिटिस, एन्सेफलाइटिस (encephalitis) व चेचक के विषाणु कोशिका को शीघ्रता से मृत कर देते हैं तथा सभी कण एक साथ बाहर आ जाते हैं। पर जंतुओं व मनुष्य के अधिकांश विषाणु कोशिका के मृत होने से पूर्व प्रजनन के कई चक्र पूरे कर चुके होते हैं। विषाणुओं की कई पीढ़ियां कोशिका को पूर्णतः कमजोर करके नष्ट कर देती हैं। कोशिका के नष्ट होने की गति के आधार पर संक्रमण की प्रकृति निर्धारित होती है। कोशिका का नाश हमेशा पूर्ण व सतत नहीं होता; इस स्थिति में वह वाह्यतः स्वस्थ दिखती है, उसकी संरचना में कोई गड़बड़ी नहीं दिखायी देती है।

वनस्पति के विषाणुओं में कोशिका से स्वयं बाहर निकलने की क्षमता नहीं होती। वे तभी स्वतंत्र हो पाते हैं, जब कोशिका किसी वाह्य भौतिक कारण से नष्ट हो जाती है। नव विषाणु, रस के साथ दूसरे

पौधों में प्रवेश कर जाते हैं। अक्सर यह क्रिया कीटों के माध्यम से होती है।

छिपा शत्रु. वहुत समय तक यह माना जाता था कि जीव में प्रवेश करने के तुरन्त वाद ही विषाणु रोग के लक्षणों के रूप में प्रकट हो जाता है। पर वास्तव में यह चालाक शत्रु कोशिका में घुसने के वाद उसके पूर्णतः नष्ट होने तक उसे अपने लाभ के लिए काम करने को वाध्य करता रहता है। अदृश्य विषाणुओं के कारण वहुत सारी कोशिकाओं के विनाश से कभी न कभी विषाणु की उपस्थिति का पता चल ही जाता है।

परन्तु विषाणु संक्रमण के निदान की अधिक परिशुद्ध विधियों, खासकर विषाणु की उपस्थिति का पता लगाने वाली प्रत्यक्ष विधियों, द्वारा यह ज्ञात हुआ कि कई बार विषाणु-कण कोशिका में प्रवेश करने के बाद भी वहां निष्क्रिय रहता है। वह चुपचाप बैठा रहता है और कोई ऐसा कार्य नहीं करता, जिससे उसकी उपस्थिति का आभास हो सके। इस आचरण का कारण पूरी तरह ज्ञात नहीं है। संभव है कि इन कोशिकाओं में पहले से ही ऐसे परजीवी उपस्थित थे तथा उनके अन्दर एक प्रकार के विषाणुरोधी पदार्थों—प्रतिरक्षी, इन्टरफेरोन, आदि—का निर्माण हो चुका था। इन पदार्थों का क्या कार्य है ? हो सकता है कि वे विषाणु के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हों, कोशिका के न्यूक्लीक अम्ल की रक्षा करते हों या इनके प्रभाव से खुद विषाणु के प्रोटीन-आवरण व उसके न्यूक्लीक अम्ल में परिवर्तन आ जाता हो।

कभी-कभी निष्क्रिय विषाणु कोशिका में बहुत लम्बी अवधि तक, यहां तक कि जीव के पूरे जीवन-काल में, उपस्थित रहते हैं, पर उनका आभास बिल्कुल ही नहीं होता है। इस प्रकार की लक्षणरहित, छिपी संक्रमणता—गुप्त संक्रमणता (latent infection)—कहलाती है। प्रकृति में ऐसे अप्रत्यक्ष रोगों की संख्या प्रत्यक्ष रोगों से काफी अधिक है। वहुत से विषाणु-वैज्ञानिकों का विचार है कि गुप्त संक्रमणता विषाणुओं

के अस्तित्व का मुख्य रूप है। यह ज्ञात है कि जंतुओं व मनुष्यों की बीमारियों के कई प्रकार के उद्दीपक, जैसे कि परिसर्प, पोलियोमायेलिटिस, एन्सेफलाइटिस व फ्लू आदि के विषाणु—जीव में बहुत देर तक छिपे रह सकते हैं तथा जीव के लिए प्रतिकूल परिस्थितियां आने पर ही ठंड, एक्स-रे या रासायनिक पदार्थों के प्रभाव से उनकी आक्रामकता जागृत हो जाती है। इस दशा में दीर्घकालिक संक्रमण तीव्र संक्रमण में परिणत हो जाता है।

इस परिघटना की वैज्ञानिक परिकल्पनाओं में से एक के अनुसार यह माना जाता है कि स्वामी की आनुवंशिक सामग्रियों के साथ विषाणु अपने आनुवंशिक तत्त्वों को संगठित करके कोशिका में छिप जाने में सफल हो जाता है। कोशिका को इसका आभास नहीं होता व प्रजनन के समय कोशिका विषाणु का भी पुनरुत्पादन कर देती है। यह प्रक्रिया कई बार घटती है जब तक कि कृतघ्न विषाणु परिस्थिति को अपने अनुकूल देखकर स्वामी पर आक्रमण नहीं कर देता।

यह समझा जाता है कि छिपा विषाणु अपने नष्टकारी कार्य को आरम्भ करके उन्हीं रोगों को फैलाता है जिनसे वह संबंधित होता है, जैसे फ्लू का विषाणु फ्लू फैलाता है। परन्तु यह भी देखा गया कि प्रयोगशाला में कृत्रिम रूप से प्रजनित कोशिकाओं को फ्लू के विषाणु से रोगी कराने पर, पूर्णतया स्वस्थ दिखने वाली कुछ पीढ़ियों के बाद कोशिकाओं की आकृति बिगड़ने लगती है, वे बिना रोकथाम के पनपने लगती हैं। स्पष्टतः उनमें किसी दुर्दम रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि ऐसी घटना जीवों के साथ भी हो सकती है। इसीलिए वैज्ञानिक इस प्रकार के शोधकार्यों पर बहुत अधिक ध्यान दे रहे हैं।

विषाणु अपना आवरण बदलता है. विषाणु-कणों को निकट से जानना समाप्त करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि वैज्ञानिकों ने कृत्रिम रूप से विषाणुओं का निर्माण करने में भी सफलता प्राप्त कर

ली है जिससे उनकी पुनरावृत्ति को नियंत्रित करना संभव हो गया है। कौन जानता है कि इन शोधकार्यों के परिणामस्वरूप निकट भविष्य में विषाणुओं के भयंकर प्रभाव को रोकने के लिए अधिक प्रभावशाली विधियों को खोजने में सफलता मिल जायेगी !

कोशिका के अन्दर जन्मा विषाणु-कण तीन महत्वपूर्ण घटकों से बना होता है : न्यूक्लीक अम्ल—यह प्रमुख संप्रेषक होता है जो सम्पूर्ण तंत्र को नियंत्रित करता है; आंतरिक प्रोटीन-आवरण—इसके रूप-गुण न्यूक्लीक अम्ल द्वारा निर्धारित होते हैं; बाह्य आवरण—कणों के कोशिका से बाहर निकलते समय इसका निर्माण कोशिकीय दीवार के टुकड़ों से होता है। परन्तु शोधकार्यों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि आवरणरहित विषाणु-कण भी कोशिका में प्रवेश करने के बाद सक्रिय व शुद्ध रूप से अपना भयंकर कार्य करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि "आधे कपड़े पहने" हुए विषाणु—जो कि मात्र दो घटकों से बना है—उतना ही खतरनाक है जितना कि सारे घटकों वाला। अगर यह सत्य है कि वह खतरनाक है, तो बाहरी आवरण की आवश्यकता ही क्या है ?

सोवियत विषाणु-वैज्ञानिक व्ही. एम. ज्दानोव ने इस बात का उत्तर दिया। बात यह है कि निजी आंतरिक आवरण वाला विषाणु-कण शरीर के लिए पराया होता है, वह उसे पहचान लेता है और उसे निष्क्रिय करने के लिए प्रतिकाय बनाने लगता है। ये प्रतिकाय विषाणु के प्रोटीन के साथ संयुक्त होते हैं जिसके फलस्वरूप संक्रामकता नष्ट हो जाती है और विषाणु मृत हो जाता है। बाह्य आवरण की यहीं जरूरत पड़ती है। वह उसी प्रोटीन से बना होता है, जिससे शरीर उसे अपना समझने लगता है।

बाह्य आवरण से युक्त विषाणु-कण पर प्रतिकाय आक्रमण नहीं करते, इसीलिए वे निष्क्रिय नहीं हो पाते हैं। आवरण में छिपा हुआ विषाणु लम्बी अवधि तक सुरक्षित रहता है और मौका मिलने पर
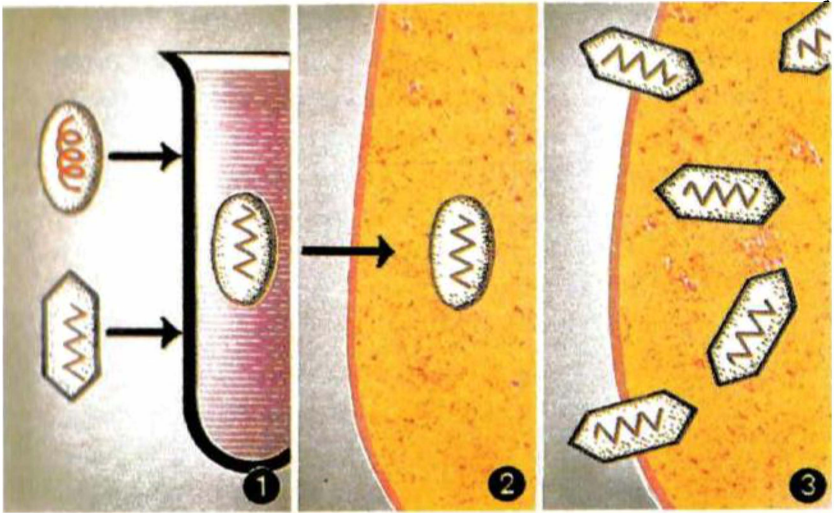
अमरीकी विपाणु-विशेषज्ञ एच. फ्रेन्केल-कोनराट के प्रयोग का रेखाचित्र :
1. विभिन्न प्रकार के न्यूक्लीक अम्लों व प्रोटीनों वाले दो विषाणु कणों का मिलना—मिश्रित विषाणु का जन्म,
2. कोशिका का संक्रमित हो जाना,
3. पुनरावृत्ति ।

एकाएक सक्रिय हो उठता है। वैसे, लोग यह भी मानते हैं कि शरीर इसे विपाणुओं के लिए भी प्रतिकाय उत्पन्न कर सकता है। पर इसके परिणाम अच्छे नहीं होते। प्रतिकाय अपने ही शरीर के प्रोटीनों के विरुद्ध क्रियाशील हो जाते हैं, जिससे खतरनाक बीमारियां (जैसे गठिया) उत्पन्न होती हैं।

प्रयोगकर्ता विपाणु-कण को उसके अवयवों में बांटना ही नहीं, इन अवयवों को मिला कर विपाणु-कण का पुनर्निर्माण करना भी सीख चुके है। सम्मिश्र बनावट के प्रयोगों के परिणाम विशेष रोचक हैं: इसमें एक विपाणु के न्यूक्लीक अम्ल को दूसरे प्रकार के विपाणु के प्रोटीन

आवरण के साथ मिला देते हैं। पर इस विषाणु में उत्पन्न बीमारी के लक्षण उसी बीमारी से मिलते-जुलते होते हैं, जो पहले प्रकार का विषाणु उत्पन्न करता है (अर्थात् जिसका न्यूक्लीक अम्ल होता है)। सम्मिश्र विषाणु की संतति के पास न सिर्फ पहले प्रकार का न्यूक्लीक अम्ल होता है, बल्कि आवरण भी पहले प्रकार के विषाणु का होता है। यह सीधा सबूत है कि आनुवंशिक सूचनाएं न्यूक्लीक अम्ल में होती हैं।

आक्रामक—वनस्पति जगत में

पौधों में विषाणु. पौधे बीमार होते हैं, इसके बारे में लोग सुदूर अतीत में ही जान गये थे, जब वे एक जगह पर खेती करने के लिए बसने लगे थे। पौधों की खेती के आरम्भ में ही परजीवियों को, जिनमें विषाणु-समूह भी शामिल थे, अपने विकास व प्रसार के लिए अनुकूल वातावरण मिलता रहता था। खेतों में पौधों का जमघट (जो कृषि-तकनीकी परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक था) वैसा ही होता था, जैसा शहरों में लोगों का। वनस्पतियों की सामूहिक बीमारियों—एपीफाइटिज्म (epiphytism)—के परिणाम इतने दुखद नहीं होते थे, जितने जन-महामारियों के होते हैं। फिर भी, वनस्पति-जगत में वे अपनी तरह की महामारियां ही हैं।

निस्सन्देह, किसान पौधों का हर संभव उपचार करते थे, उनको नष्ट होने से बचाने का प्रयास करते थे। 100 से भी अधिक वर्ष पूर्व, वनस्पतियों पर आश्रित रहने वाले छत्रक जीवों की खोज की गयी। इसके बाद रोग-जनक जीवाणुओं की खोज हुई और अंत में, जैसा कि आपको विदित है, दिमित्री इवानोव्स्की ने तम्बाकू को रोगग्रस्त करने वाले एक बिल्कुल असाधारण रोगोद्दीपक तम्बाकू किर्मीर विषाणु का पता लगाया। इस खोज के शीघ्र बाद ही यह ज्ञात हुआ कि ऐसे रोग आलू, टमाटर, खीरा, सेम, अनाज, फूलों तथा फलों को भी हो जाते हैं। पहले शोधकर्ता लोग रोगों के लक्षणों का वर्णन तथा रोगग्रस्त कोशिका का सूक्ष्मदर्शी से अध्ययन ही करते थे। निस्सन्देह, रोग से संघर्ष की विधियों का भी सक्रिय रूप से विकास किया जा रहा था।
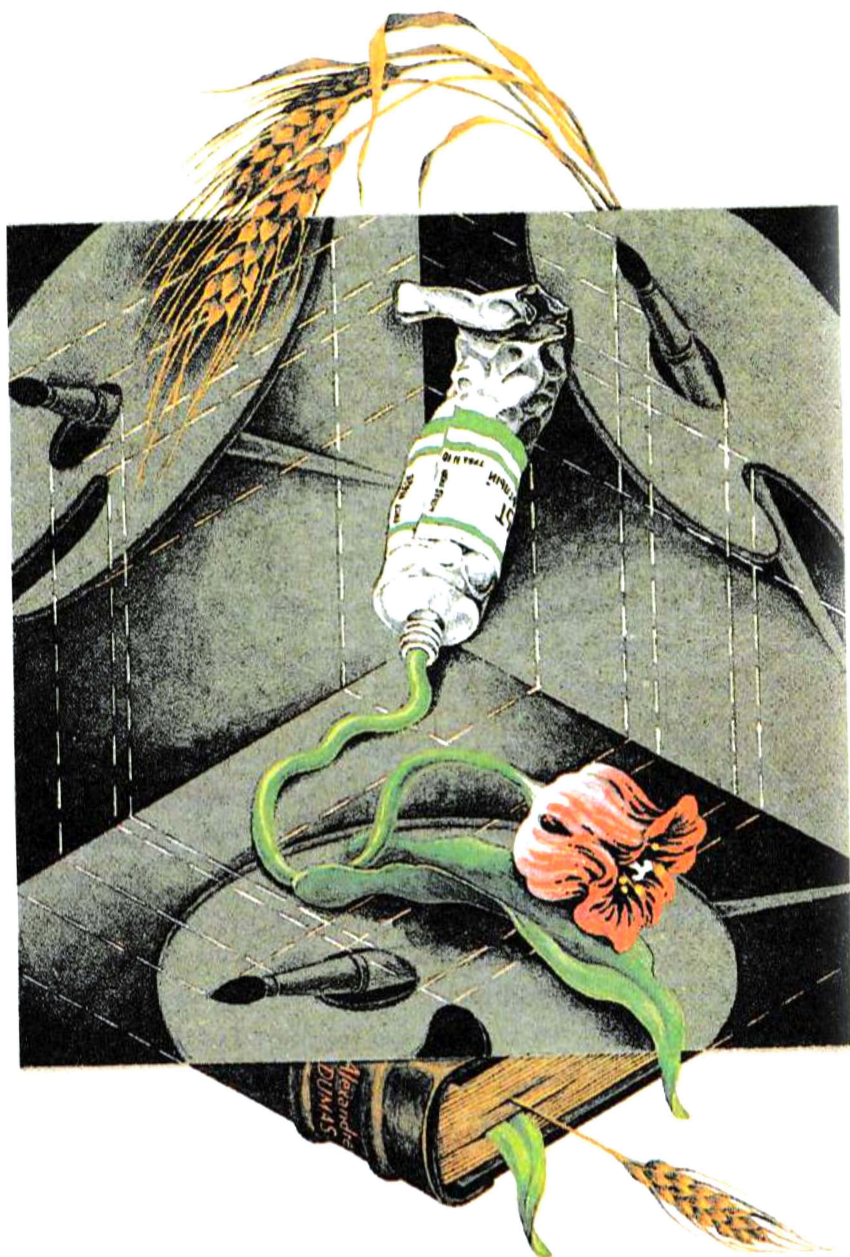
पर सफल उपचार के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम रोग का निदान किया जाये, उद्दीपक की पहचान की जाये। सन् 1931 में अंग्रेज वैज्ञानिक के. एम. स्मिथ ने इस समस्या को हल करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। उन्होंने आलू की बीमारियों का अध्ययन किया। वैज्ञानिक समझ गये कि उत्तेजक एक नहीं, अनेक हैं। पर यह कैसे निश्चित किया जाये कि आलू के कंद कब, किस विषाणु द्वारा पीड़ित हुए और यह कि कहीं वे एक ही साथ कई विषाणुओं द्वारा तो नहीं ग्रस्त हुए थे! के. एम. स्मिथ ने विषाणुओं के पृथक्करण व पहचान के लिए जीवविज्ञानी विधियों को प्रस्तुत किया। विषाणुओं के संचरण के लिए उन्होंने स्वाभाविक प्राकृतिक वाहकों—*aphid Myzus persicae*—का उपयोग किया तथा यह देखा कि यह ऐफिड केवल एक विशेष विषाणु द्वारा ही स्वस्थ आलू को पीड़ित करती है; इस विषाणु का नाम उन्होंने रखा आलू विषाणु-*y* *x* संवाहित नहीं होता था। इस प्रकार आलू विषाणु-*y* को परिशुद्ध रूप में प्राप्त किया जा सका। एक वनस्पति से दूसरी वनस्पति तक विषाणुओं को कृत्रिम विधि —टीके (inoculation)—द्वारा पहुंचाया जा सकता है। इस विधि के अनुसार वनस्पति की कोशिका के आवरण को थोड़ा-सा चीरते हैं (कार्बोरन्डम के तीक्ष्ण कणों से चीरकर या सुई द्वारा छेदकर) और साथ ही विषाणु-युक्त प्रसाधन में भिगोते हैं। के. एम. स्मिथ ने ध्यान दिया कि आलू के दोनों विषाणु सुई द्वारा टीका लगाकर एक पौधे से दूसरे तक पहुंचाये जा सकते हैं। पर ऐसी भी वनस्पतियां हैं जो एक विषाणु द्वारा बिल्कुल ही नहीं, पर दूसरे द्वारा अति सरलता से पीड़ित हो जाती है। उदाहरण के लिए, धतूरे का पौधा विभिन्न विषाणुओं के मिश्रण का टीका लगाने पर केवल आलू के विषाणु-*x* से ही पीड़ित होता है।

वनस्पतियां विषाणु के आक्रमण का संकेत देती हैं. हॉलैंड के बहुत से शहरों में ऐसी जगहें हैं जहां हर सुबह ऐसे फूलों की प्रदर्शनी व

नीलामी होती है, जिन्हें मार्च माल पौधाघरों में उगाया जाता है । इस प्रकार की प्रदर्शनी से विश्व के विभिन्न भागों में प्रति दिन 40 लाख से अधिक फूल भेजे जाते हैं—गुलाब, लवंग, ट्यूलिप, आदि । हॉलैंड के ट्यूलिपों को ए. ड्यूमा ने अपने उपन्यास "काला ट्यूलिप" से विश्व ख्याति दिलायी । इससे पूर्व, ट्यूलिपों को रेम्ब्रां ने अपने चित्रों में अंकित किया था । सुप्रसिद्ध चित्रकार ने फूल को काला न दिखाकर, यथार्थवादी रूप से उसकी पंखुड़ियों पर सुंदरता से उखड़े रंग की धारियां दिखायीं । पर ऐसी रंग-बिरंगी पंखुड़ियां फूल के विषाणुग्रस्त होने का लक्षण प्रकट करती हैं ।

विषाणु द्वारा उत्पन्न रोगों के लक्षण केवल फूलों के रंग बदलने की प्रक्रिया में ही नहीं स्पष्ट होते हैं, बल्कि पत्तियों के रंग बदलने में भी । पत्तियों के लक्षणों के आधार पर रोगों को दो प्रमुख वर्गों में बांटा जाता है—किर्मीर (mosaic) तथा पीलिया (jaundice) । किर्मीर विषाणुओं द्वारा संक्रमित होने पर पत्तियों का रंग जगह-जगह पर फीका पड़ जाता है तथा कुछ समय बाद शिराओं के बीच रंग-बिरंगे (हल्के पीले से भूरे रंग तक के) धब्बे, लकीरें या वलय उत्पन्न हो जाते हैं । इसका अर्थ है कि रोगग्रस्त भागों में क्लोरोफिल नष्ट हो रहा है तथा पौधे के नाइट्रोजन व फॉस्फोरस विषाणु-कणों के निर्माण में काम आ रहे हैं । ग्रस्त भागों में ऊतक प्रायः मृत हो जाता है जिससे विषाणु आगे नहीं बढ़ पाता है । इस प्रकार रोग केवल निश्चित स्थानों तक ही सीमित रहता है ।

पीलिया विषाणुओं द्वारा संक्रमित होने पर पत्तियां भंगुर व मोटी हो जाती हैं, फिर केन्द्रीय शिरा की ओर मुड़ जाती हैं । इन विषाणुओं की कार्यविधि का क्षेत्र पत्तियों तक ही नहीं सीमित रहता । पौधे के विकास के लिए आवश्यक द्रव्य-विनियम में विकार के कारण विभिन्न प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं, जैसे बौनापन (dwarf state), झाड़ीपन (bushiness), कैन्सरजन्य गांठें, आदि । एक ही जाति के पौधों के समान प्रकार के विषाणुओं द्वारा संक्रमित होने पर भी लक्षण विभिन्न

वनस्पतियों में विषाणु-रोगों के लक्षण।

हो सकते हैं। संक्रमण की प्रकृति पर वायु का तापमान, प्रकाश, पौधे की आयु, पोषण व अन्य कई बातें प्रभाव डालती हैं। विषाणु के लिए प्रतिकूल परिस्थितियां होने के कारण, बहुत से रोगों के लक्षण क्षीण हो जाते हैं और पूर्णतः लुप्त भी हो जा सकते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं होता कि पौधा स्वस्थ हो गया है। विषाणु निश्चेष्ट हो जाता है— अव्यक्त, गुप्त अवस्था में आ जाता है; लेकिन फिर भी संक्रामकता का खतरनाक वाहक बना रहता है।

असंख्य क्षतियां. मानवजाति अपना भोजन प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करती है। अगर पौधा रोगी हो जाता है, तो फल, पत्तियां, जड़ें व पौधे के दूसरे अंग, जिनके लिए पौधे को उगाया जाता है, नियमतः पूर्णतया विकसित नहीं हो पाते हैं। उनकी कोटि स्वस्थ पौधे की उपज से निम्न होती है। फसल की हानि परिश्रम की हानि

है, सीधी आर्थिक हानि है। इसमें वह व्यय भी शामिल करना चाहिए, जो फसल को विषाणु द्वारा उत्पन्न रोगों से बचाने के लिए आवश्यक साधनों के रूप में व्यर्थ जाता है। विशेषज्ञों को कुछेक सौ विषाणु ज्ञात हैं, जो एक वर्षीय तथा बहुवर्षीय पौधों को ग्रस्त करते हैं।

एपीफाइट (epiphyte) से पीड़ित बहुवार्षिक बागों को देखकर बहुत दुख होता है : पत्तियां विकृत होकर गिरती हैं, इसके बाद डंठल व टहनियां सूखती हुई मृत हो जाती हैं। अगर फल उत्पन्न भी होते हैं, तो उनकी संख्या बहुत कम होती है। उदाहरण के लिए, उत्तरी व दक्षिणी अमरीका के कई क्षेत्रों में विषाणु-रोगों के ही कारण नींबू जाति के फलों की कोटि निम्न हो गयी। विषाणु-रोगों द्वारा पीड़ित होने पर सेब का भार दस गुना कम हो जाता है; हॉप की गांठ, चाय की पत्तियों और गुलाब की पंखुड़ियों की कोटि निम्न हो जाती है। इन रोगों के परिणामों से मुक्ति पाने के लिए तथा नये बागानों व खेतों को उगाने के लिए बहुत अधिक समय की आवश्यकता पड़ती है।

वार्षिक फसलों की दशा भी कोई ज्यादा अच्छी नहीं है। केवल अमरीका में विषाणु-रोगों से 20% गेहूं की हानि होती है। स्वस्थ आलू की तुलना में विषाणुग्रस्त आलू की पैदावार 3-4 गुनी कम है। विटामिन व अन्य पोषक पदार्थों की कमी के कारण, गाजर व चुकंदर की पैदावार कई गुना कम हो जाती है। यह कहना कठिन है कि अगर वनस्पति को विषाणु-रोगों से पूर्णतः मुक्त कर दिया जाये, तो कितनी अधिक फसल प्राप्त होगी। बहुत से विशेषज्ञों का मत है कि वर्तमान समय में विषाणु विश्व की कुल फसल का 70 से 80% तक भाग कम कर रहे हैं।

नैदानिकी. विषाणुओं द्वारा उत्पन्न रोगों का मुकाबला करने के लिए प्रथम कार्य रोग के उद्दीपक को पहचानना है। सबसे शीघ्रता की, पर अशुद्ध, विधि है—बाह्य आकृति के आधार पर निदान करना। परन्तु

विभिन्न प्रकार के विषाणु, प्रथम दृष्टि में एक जैसा दिखने वाला रोग उत्पन्न कर सकते हैं। अतः यह विधि वनस्पतियों की अवस्था का मात्र प्राथमिक अध्ययन करने के लिए उपयुक्त हो सकती है।

जैसा कि आपने देखा है, विषाणु का नाम उन शब्दों से रखा जाता है जो रोग के मुख्य लक्षणों को व्यक्त करते हैं (वलय, चित्ती, पीलिया, पीत किर्मीर, आदि, का विषाणु) तथा इसे उस वनस्पति के नाम से भी व्यक्त करते हैं जिससे यह विषाणु सर्वप्रथम पृथक किया गया था। पर यह तथ्य कि विषाणु का नाम एक विशेष वनस्पति के आधार पर रखा जाता है—यह सिद्ध नहीं करता कि यह विषाणु सिर्फ इस वनस्पति पर ही सक्रिय होता है। ऐसी अन्य वनस्पतियां भी हो सकती हैं, जो इस विषाणु का शिकार होकर सुनिश्चित लक्षण प्रकट करती हैं। ये ही
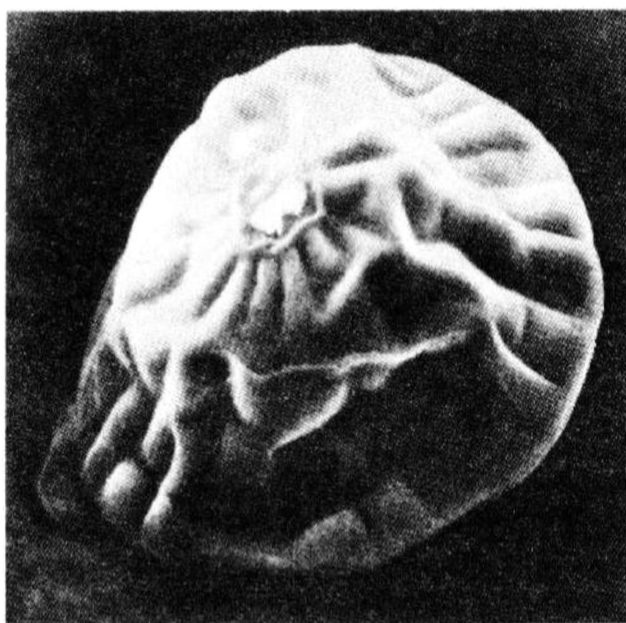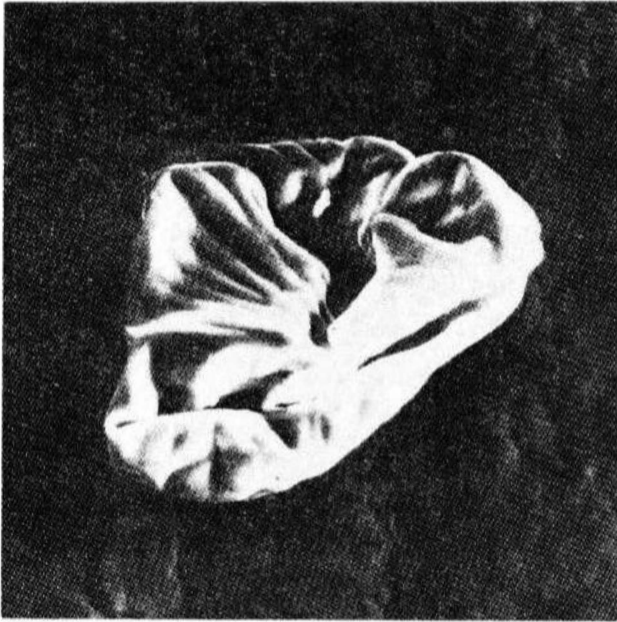
हॉप की गांठ का ल्युपुलिन-कण—हॉप की अंतराणिरीय किर्मीर-विषाणु द्वारा पीड़ित तथा स्वस्थ गांठ (इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्मदर्शी द्वारा 100 गुना बड़ा चित्र)।

ऐसी वनस्पतियां हैं जिन्हें वैज्ञानिक सूचकों के रूप में प्रयुक्त करते हैं। प्राय: सूचकों का कार्य तम्बाकू, दलदली बथुआ, आलू तथा अन्य वनस्पतियां करती हैं जो विषाणुओं की अति निम्न संख्या के साथ भी प्रतिक्रिया की क्षमता रखती हैं। इस विधि में त्रुटि यह है कि वनस्पतियों---सूचकों—को ऐसे स्थान पर रखना अनिवार्य है, जहां कीड़े विषाणुओं को लेकर न पहुंच सकें। इसीलिए अगर विषाणु-प्रसाधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, तो पादप रोग विशेषज्ञ (phytopatho-

logist) सीरमशास्त्रीय विधि (serological method) अपनाते हैं।

मान लें, हमें यह ज्ञात करना है कि अमुक पौधा किस विषाणु द्वारा पीड़ित है; और ठीक-ठीक कहें तो—हमें यह ज्ञात करना है कि रोगी पौधों के बीच कोई ऐसा पौधा तो नहीं है, जो उसी उद्दीपक द्वारा पीड़ित किया गया हो जिसने हमारे पौधे को पीड़ित किया है।

इस समस्या का हल कैसे ढूंढें—जबकि सीरमी निदान-विधि प्रतिजीनों व प्रतिजीवों के बीच हो रही पारस्परिक प्रतिक्रिया पर आधारित है? हमारे पास निश्चित विषाणुओं वाले पौधे का रस व किसी भी पदार्थ द्वारा पीड़ित पौधा है (जिसका रस भी प्राप्त किया जा सकता है)। लेकिन पौधे के रस को प्रतिजीवों वाले सीरम में कैसे परिवर्तित किया जाये?

अगर विषाणुवाहक जंतु होता न कि पौधा, तो किसी प्रकार की समस्या नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि जंतु के अवयव प्रतिकायों का निर्माण स्वयं कर देते। अगर पौधे के विषाणु वाला रस जंतु के शरीर में प्रवेश कराया जाये, तो क्या होगा? यह देखा गया कि जन्तुओं का पौधे के रस द्वारा प्रतिरक्षीकरण वही परिणाम देता है जैसा कि अन्य प्रतिजीनों द्वारा प्रतिरक्षीकरण, अर्थात् तदनुरूप प्रतिकायों का निर्माण होने लगता है।

प्रतिरक्षीकरण के लिए परम्परागत प्रयोगोपयुक्त जंतुओं—खरगोश, चूहे, आदि—को चुना जाता है। जंतु की नस, उदर या त्वचा में विषाणु द्वारा पीड़ित रस की निश्चित मात्रा प्रवेश करायी जाती है तथा कुछ दिनों पश्चात उस जंतु का रक्त लेकर उससे सीरम (और ठीक कहें तो प्रतिसीरम क्योंकि उसमें पौधे के अज्ञात विषाणु के विरुद्ध प्रतिकाय उत्पन्न हो चुके हैं) तैयार किया जाता है। पेट्रीडिश (petridish) के गड्ढों में विषाणुओं द्वारा उत्पन्न रोगों से पीड़ित विभिन्न पौधों के रस तथा प्रतिसीरम भर देते हैं। अवक्षेपण में उत्पन्न हुई धारियां रोगों के उत्तेजकों की पारस्परिक समानता को सिद्ध करती हैं।
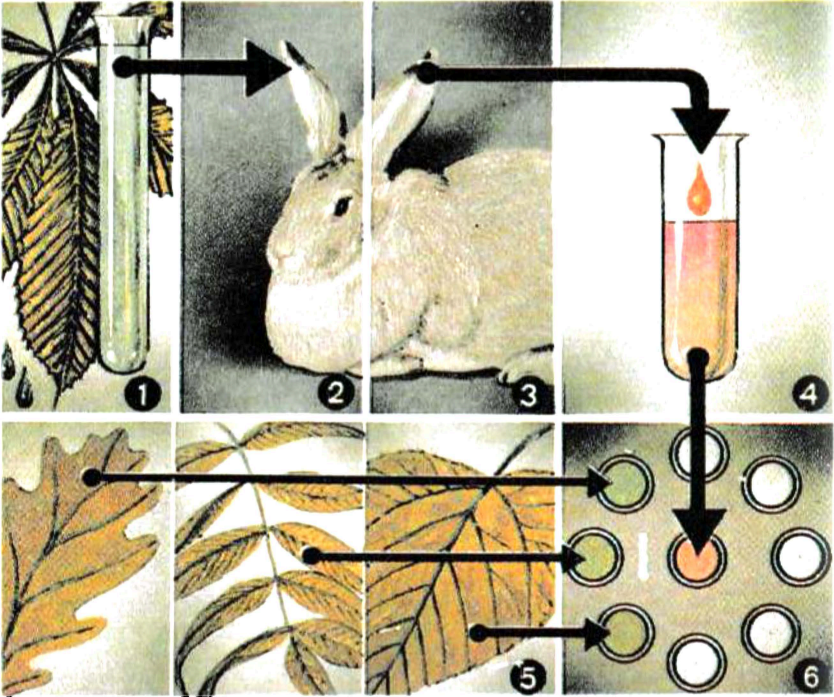
वनस्पतियों के विषाणु-रोगों का निदान :

1. रोगी वनस्पति से रस निकालना,
2. खरगोश के रक्त में रस को मिलाना,
3. खरगोश से रक्त को लेना,
4. प्रतिसीरम तैयार करना,
5. रोगी वनस्पतियों से रस को अलग करना,
6. प्रतिजीनों-विषाणुओं को रोधक्षमित खरगोश के रक्त से प्राप्त प्रतिकायों से तुलना ।

विषाणुओं की जीवन-शक्ति और उनका प्रसारण. आपको ज्ञात ही है कि जीवित कोशिका के बाहर विषाणुओं का प्रजनन संभव नहीं होता

तथा लंबी अवधि तक कम ही विषाणु सुरक्षित रहते हैं। तो फिर, शीत ऋतु के आगमन से मृत हो जाने वाली वार्षिक फसलें कैसे पुनः संक्रमित हो जाती हैं ?

उद्‌भिज्ज रूप में (कंद, जड़, मूल, शूक, आदि, रूप में) प्रजनित होने वाले पौधों को ग्रस्त करने वाले विषाणु शीतकाल में उद्‌भिज्ज अंगों में रहते हैं। बीजों में वे विरले ही रहते हैं और अगर वहां पहुंच भी जाते हैं, तो शीतकाल के दौरान निष्क्रिय हो जाते हैं। हां, सेम, कद्दू व अन्य कुछ पौधों के बीज यहां अपवाद हैं, क्योंकि इनमें रोगों के उद्दीपक अपनी सुरक्षा के अनुकूल वातावरण पाते हैं। कई विषाणु, भूमि के अन्दर, वनस्पति के अवशेषों आदि में, संरक्षित रहते हैं। उदाहरण के लिए, तम्बाकू किर्मीर के विषाणु को तम्बाकू के पौधे के

वनस्पति में घुसी ऐफिड की शूकिका।

अवशिष्ट भागों में, वृहत्कालिक विषाणु व आलू के विषाणु-x को भूमि के अन्दर कई वर्षों से जमा हुई घासपात में, पाया जा सकता है।

जहां तक विषाणु-उद्दीपकों के एक पौधे से दूसरे पौधे तक स्थानांतरण का प्रश्न है, तो अधिकांश स्थितियों में यह कार्य मध्यस्थों की सहायता से होता है। फलों वाली वनस्पतियों की कोटि व संख्या को, मनुष्य उन्हें टीका लगाकर, उच्च कर देता है। और, अगर टीके में विषाणु रहा हो, तो पूरे पेड़ में इसके प्रसार को रोकना असंभव है क्योंकि प्रयोग द्वारा सिद्ध हो चुका है कि उद्दीपक के स्थानान्तरण के लिए टीका सर्वाधिक विश्वस्त माध्यम है। स्थायी व दृढ़ विषाणु (जैसे तम्बाकू किर्मीर का विषाणु, आदि) पौधे के निचोड़े रस में बहुत दीर्घ-काल तक संक्रामक गुण बनाये रखते हैं, और पौधे के प्रतिरोपण के समय, पौधे को जमीन में लगाते समय, या तने को काटते समय अति सरलता से संचरित हो जाते हैं, जिससे उपयोग में लायी विषाणु-युक्त वनस्पति का रस औजारों अथवा हाथों के माध्यम से स्वस्थ वनस्पति की यांत्रिक कार्य से क्षत हुई कोशिकाओं में प्रवेश कर जाता है तथा वहां विषाणु का प्रजनन आरम्भ हो जाता है। एक वनस्पति के दूसरी वनस्पति से संपर्क में आने से या उनके परस्पर रगड़ने से (जैसे बहुत तेज हवा के चलने के समय) भी विषाणुओं का प्रसारण हो सकता है। विषाणुओं के वाहकों का कार्य फंगस, नेमाटोड (nematode), यहां तक कि अमर बेल (dodder) भी कर सकते हैं।

पर विषाणुओं के प्रसार के मुख्य उत्तरदायी आर्थोपोडा वाहक—कीट तथा चिचड़े—होते हैं। संक्रमित वनस्पति के रस का पोषण करने के परिणामस्वरूप, वे स्वयं ही विषाणुओं से संक्रमित हो जाते हैं। कीटों के अन्दर विषाणुओं का प्रजनन होता है, वे ग्रसिका के रास्ते लारग्रंथि से निकली लार के साथ मिलकर नयी कोशिका पर प्रभाव डालते हैं। बहुत सारे कीट जीवन भर विषाणुवाहक बने रहते हैं। विभिन्न विषाणुओं के गुप्त रहने का समय एक समान नहीं होता। यह समय 30

मिनट से लेकर (चुकंदर के पीलिये के विषाणु के लिए), एक महीने तक (एस्टर के पीलिये के विषाणु के लिए) हो सकता है।

ऐफिड तथा साइकैड, विषाणुओं की कई जातिओं के वाहक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, आलू की ऐफिड 70 से भी अधिक प्रकार के विषाणुओं को फैलाती है। किर्मीर विषाणुओं का ग्रुप (खीरे के किर्मीर के विषाणु, आलू का विषाणु-Y) ऐफिडों द्वारा केवल संपर्क-विधि से फैलता है। ऐफिडों के पोषण के समय विषाणुओं का प्रजनन नहीं होता।

प्रत्येक विषाणु के फैलने के ढंग का अध्ययन करना कोई सरल कार्य नहीं है, पर इसके बिना विषाणु-जगत के अजनबियों से वनस्पतियों की रक्षा करना भी तो असम्भव है!

विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों के शोधकार्यों ने सिद्ध कर दिया है कि ऐसी वनस्पति नहीं, जिस पर कम से कम एक प्रकार का विषाणु हमला न करता हो। इन विषाणुओं में से प्रत्येक की अपनी प्रकृति व विशेषता होती है। उनमें से कुछ ज्यादा शक्तिशाली या दृढ़ नहीं होते। वे स्वामी के बिना अधिक देर तक जीवित नहीं रह सकते तथा मृत हो जाते हैं—जबकि कई दूसरे प्रतिकूल परिस्थितियां देख कर छिप सकते हैं तथा अनुकूल समय की प्रतीक्षा करते हैं। अदृढ़ विषाणु अपने को जीवित रखने के लिए विभिन्न स्वामियों के अनुकूल हो जाते हैं। जैसे, तम्बाकू की धारियों का विषाणु 21 जातिओं की 90 प्रकार की वनस्पतियों को संक्रमित करता है तथा ल्यूसर्न (lucerne) किर्मीर का विषाणु 28 जातियों की 98 किस्मों को संक्रमित करता है। ये शत्रु सचमुच में किसी पर भी वार कर सकते हैं। इस बात की गारंटी कहां है कि नयी जगह जाकर, वे असहाय स्वामियों को अपना शिकार नहीं बनायेंगे?

वनस्पतियों की रक्षा. यह प्रसन्नता की बात है कि वनस्पतियों, जंतुओं व मनुष्यों को अपना शिकार बनाने वाले विषाणुओं में कई

दुर्बलताएं भी होती हैं। उनकी कमजोरी के ज्ञात होने पर इन विषाणुओं को नष्ट करने का यथोचित उपाय ढूंढ़ा जा सकता है (विषाणुरहित वनस्पति प्राप्त की जा सकती है) तथा स्वामी की कोशिका में उनके प्रवेश को रोका जा सकता है।

रोगों से वनस्पतियों की सुरक्षा के कार्य विभिन्न पैमानों पर किये जाते हैं—सार्वत्रिक, राजकीय स्तर से लेकर अलग-अलग खेतों, बाग, यहां तक कि पौधों तक पर।

सोवियत संघ के बन्दरगाहों, सीमान्त नगरों व अन्तर्राष्ट्रीय हवाई-अड्डों पर गहरे-नीले रंग की वर्दी पहने कर्मचारियों को देखा जा सकता है। उनकी सरकारी वर्दी के फीते पर एक आश्चर्यजनक चिह्न बना होता है—गेहूं की बाली जिसको चारों ओर से सांप ने लपेट रखा होता है। यह देश के राज्य-वनस्पति-संगरोध-निरीक्षण का चिह्न है। इसकी नियमावली में लिखा है: "सोवियत संघ की सीमा को अन्य देशों से आने वाली संगरोधक तथा अन्य भयंकर बलाओं से, वनस्पति रोगों व खतरनाक कचरे आदि से रक्षा करना, जो देश की आर्थिक व्यवस्था को काफी हानि पहुंचा सकती हैं"। संगरोधी विभाग देश के प्रत्येक जनतन्त्र, प्रत्येक जिले, में स्थित हैं।

कृषि तकनीकी उपायों का विषाणुओं से उत्पन्न रोगों की रोकथाम में अत्यधिक महत्व है। पौधों को बोने के समय में परिवर्तन कर देने से भी आशाजनक परिणाम मिलते हैं। उदाहरण के लिए, बीज वाले आलू को अगर साइकैड-विषाणुवाहक के प्रकट होने से पहले बो दिया जाये, तो वृहत्कालिक विषाणु व मुरझाने से उसकी रक्षा की जा सकती है। जोते जाने वाले पौधों के पास अगर संक्रमणतायुक्त प्राकृतिक पौधे हों, तो उन्हें पूर्णत: नष्ट कर देना चाहिए, जैसे जंगली घास को जिसमें टमाटर के उत्तेजक जाड़ों भर छिपे रहते हैं, या ऐसे अपतृण जो किसी फसल के विषाणुओं से संक्रमित हों, आदि।

वनस्पतियों की कीटों-विषाणुओं के वाहकों से रक्षा करने वाला विभाग बड़ी निष्ठुरता से उनका मुकाबला कर रहा है ।

विषाणुरहित व विषाणुसह वनस्पतियां. सामान्य चिकित्सा व पशु-चिकित्सा में रोध-क्षमता उत्पन्न करने वाले या उसे बढ़ाने वाले टीके का प्रयोग देखकर आज कोई भी आश्चर्यचकित नहीं होता । बहुत समय तक यह समझा जाता था कि वनस्पतियों में कृत्रिम रूप से रोध-क्षमता उत्पन्न नहीं की जा सकती है । वैज्ञानिक रूप से यह भी दिखाया गया कि वनस्पतियों में उनके रस का परिसंचरण नहीं होता है, न ही उनमें नियंत्रक प्रणाली उपस्थित होती है । पर मात्र एक-दो प्रयोगों के बल पर यह बात वैज्ञानिकों द्वारा पूर्णत: स्वीकार नहीं की गयी । उदाहरण के लिए, यह देखा गया कि अगर वनस्पति का एक अंग विषाणु द्वारा संक्रमित हो गया है, तो काफी दूर स्थित उसके अंगों को उसी या उसी से मिलती-जुलती जाति के विकृत विषाणुओं द्वारा भी संक्रमित नहीं किया जा सकता । इन प्रयोगों के बल पर, वनस्पतियों को विकृत तथा दुर्बल विषाणुओं के **कृत्रिम टीके** लगाने के विचार की उत्पत्ति हुई ।

टीका लगाने से पूर्व विषाणुओं रहित वानस्पत्य सामग्री को प्राप्त करना आवश्यक है । परन्तु क्या इन सर्वव्यापी एजेंटों से पीछा छुड़ाना संभव है, जबकि ये वनस्पति की कोशिकाओं में पहले से ही घुसे बैठे हों ?

लगता है कि यह कार्य संभव है । विषाणुओं की दुर्बलताएं जानकर वैज्ञानिकों ने विषाणुरहित अवतरण सामग्री प्राप्त करने की कुछ विधियां ढूंढ़ ली हैं । इनमें से एक विधि **वनस्पतियों की ऊष्मा-उपचार विधि** कहलाती है, जिसमें ताप द्वारा उनको असंक्रमित किया जाता है । वनस्पतियों (प्ररोह, नर्सरी पौधे, बेहन, आदि) को विशेष चैम्बरों में रखते है, जिन्हें फाइटोट्रोन (phytotron) कहते हैं । इन चैम्बरों में स्वचालित विधि द्वारा तापमान व वायु की आर्द्रता को नियंत्रित रखा जाता है । इन चैम्बरों में ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न की जा सकती हैं, जिनसे वन-

स्पतियों को तो किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचती, पर विषाणु या तो निष्क्रिय हो जाते हैं या मृतक हो जाते हैं—उदाहरण के लिए, अगर तापमान काफी समय तक 40°C पर स्थिर रखा जाये ।

परन्तु ऊष्मासह विषाणुओं (जैसे कि, अंतरेंजी हॉप किर्मीर के विषाणु) से वनस्पति को पूर्णतः मुक्त नहीं किया जा पाता है; उसके वे ही अंग मुक्त हो पाते हैं जिनका विकास ऊष्मा-उपचार के दौरान होता है । ऊष्मा-उपचार को रासायनिक उपचार के साथ संयोजित किया जा सकता है—अगर वनस्पतियों पर विषाणुओं के निरोधकों को छिड़क दिया जाये, या चैम्बर के वायुमंडल में विषाणु-निरोधकों को भर दिया जाये । पिछले कुछ समय से एक अन्य विधि, जिसका नाम विभज्या संवर्ध विधि (meristem culture method) रखा गया है, अत्यन्त आशाजनक परिणाम दे रही है । यह विधि एक रोचक प्रेक्षण पर आधारित है—विकसित हो रही टहनियों व डंठलों के ऊपर, जिनकी लम्बाई केवल कुछ सेंटीमीटर ही होती है, स्थित कोशिकाएं विषाणुओं से मुक्त होती हैं । ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि विषाणु-कण पीछे रह जाते हैं, वे पनपती कोशिकाओं का साथ नहीं दे पाते । अगर ऐसे भाग को काट कर पोषक माध्यम में डाल दिया जाये, तो वह विकसित हो जायेगा तथा वनस्पति का यह भाग विषाणुरहित वनस्पति का प्रजनन आरम्भ कर देगा ।

बहुत से देशों के वैज्ञानिक इस विधि को अपना रहे हैं । हॉलैंड के फूल उगाने वालों को काफी व्यावहारिक सफलताएं मिली हैं । हॉलैंड के पादप रोग विज्ञान संस्थान में ब्रीडर डी. डब्लू. लिफीबरे की लवंग व ट्यूलिप की कुछ किस्में, जैसे, "लेनिन की स्मृति", "गालीना उल्यानोवा", "यूरी गागारिन", आदि, अपने खूबसूरत चमकीले (विषाणुयुक्त चितकबरा नहीं) रंगों के कारण अत्यंत प्रसिद्ध हैं ।

यह स्पष्ट है कि वनस्पतियों का उपचार ऊष्मा-उपचार तथा मेरीस्टेम संवर्ध विधियां तक ही सीमित नहीं रहता है । वैज्ञानिकगण

प्रयोगशालाओं में पौधों के विषाणुओं पर चुम्बकीय क्षेत्र, विघटनाभिक विकिरण, भारहीनता, आदि, के प्रभाव का अध्ययन कर रहे हैं। विषाणुरहित सामग्री प्राप्त करने के पश्चात, उसे दुर्बल विकृत विषाणुओं का टीका लगाना ही बाकी रह जाता है। विषाणु विशेषज्ञों, पादप रोग विशेषज्ञों, ने इस भयंकर शत्रु को नष्ट करने के प्रयास केवल कुछ समय पहले ही आरम्भ किये हैं। सर्वसोवियत वनस्पति-रक्षा वैज्ञानिक अनुसंधान-संस्थान में प्रथम आशाजनक सफलताएं प्राप्त हुई हैं। यू. ई. क्लामोव तथा उनके साथियों को तम्बाकू किर्मीर के दुर्बल विकृत विषाणु प्राप्त करने में सफलता मिली है तथा कृत्रिम रूप से टीका लगाने की विधि ढूंढने में भी उपयोगी परिणाम प्राप्त हुए हैं।

वैज्ञानिकों को प्राकृतिक रूप से स्थित वनस्पतियों को टीका लगाने हेतु आवश्यक प्रसाधन ढूंढ़ने के लिए काफी प्रयास करने पड़ेंगे।

बहरहाल, अभी तक वनस्पतियों के विषाणु रोगों को नष्ट करने की सर्वाधिक उत्तम विधि है—रोधक्षम (प्रतिरक्षी) किस्मों को पैदा करना। प्रकृति ने मानो स्वयं ही वनस्पतियों की रक्षा का प्रयास करते हुए, उनकी कुछ ऐसी किस्में उत्पन्न की हैं जिन पर विषाणु रोगों का प्रभाव नहीं पड़ता है। यह अवश्य सच है कि पैदा की जाने वाली वनस्पतियों की कुछ किस्मों से काफी कम फसल होती है। इसी कारण ब्रीडर को ऐसी जीनों को ढूंढ़ना पड़ता है जो रोधक्षमता बनाये रखती हैं व उनको कृषि-उत्पादन के लिए आवश्यक वनस्पतियों में डालना पड़ता है।

विषाणु—वनस्पतियों का मित्र है या नहीं? इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व उस लाभ के बारे में भी कुछ कहना आवश्यक है, जो विषाणु वनस्पतियों को पहुंचाते हैं। यह बात अवश्य है कि यह लाभ विषाणु द्वारा कीटों को पहुंचायी जाने वाली हानि के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। खेतीबारी के नाशक जीव, प्रति वर्ष असंख्य खेतों, बागों व जंगलों

को नष्ट करते रहते हैं। सोवियत वैज्ञानिकों की गणना के अनुसार यह ज्ञात हुआ है कि अगर कीटों—खेतीबारी के शत्रुओं—से वनस्पतियों की रक्षा की जाये, तो 2.5 करोड़ टन चीनी वाले चुकंदर, 10 लाख टन अंगूर, व 6 लाख टन कच्ची कपास की अतिरिक्त मात्रा प्राप्त की जा सकती है।

दसियों वर्ष तक कीटों को नष्ट करने के लिए महत्वपूर्ण हथियार की भूमिका विष निभाते रहे हैं : लेड आर्सेनेट, तम्बाकू, मिट्टी का तेल, DDT तथा संश्लिष्ट यौगिक, आदि। सर्वप्रथम, विष एक के बाद एक सभी नाशक जीवों को (प्राय: चिड़ियों व जानवरों को भी) नष्ट कर देता था। और इसके बाद ऐफिड, साइकैड, कृन्तक . . . जो कि पूर्णतः लुप्त हो गये लगते थे, और अधिक शक्ति से व और अधिक संख्या में विषाक्त वनस्पतियों पर टूट पड़ते थे। अल्प समय में ही अलग-अलग विषाणुओं की विराट संख्या, व उनमें परिवर्तन के कारण कीट, रोधक्षम हो जाते हैं। और विष, जो अब नाशक जीवों के लिए कोई खतरा नहीं रखते, अन्य जीवों के लिए जिनमें मनुष्य भी सम्मिलित है, खतरनाक बने रहते हैं। विष जितना अधिक तीव्र होगा, उतना ही अधिक वह मनुष्य के लिए खतरनाक होगा और जैसा कि हम देखते हैं, वह कीटों के लिए खतरनाक नहीं भी होता है। इस समस्या का क्या हल है ?

आज बहुत सारे देशों में वैज्ञानिक, जीवविज्ञानी विषों का निर्माण कर रहे हैं। यह नयी विधि प्राचीन लोकप्रिय साधनों पर आधारित है। इसके अन्तर्गत कीटों को उनके प्राकृतिक शत्रुओं—परजीवी कीटों, रोग उत्पन्नकारी जीवों—द्वारा नष्ट करके विषाणु शत्रुओं की भूमिका निभाते हैं। पर यहां सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि विषाणु चुनिंदा ढंग से कार्य करते हैं। वे विषाणु, जो कीटों को नष्ट करते हैं, ऊष्मरक्ती जंतुओं पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं डालते।

निस्संदेह, इस दिशा में अभी बहुत कार्य किया जाना बाकी है।

इससे पहले कि विषाणुओं को प्रयोग में लाया जाये, उनकी प्रकृति का अध्ययन करना अत्यंत आवश्यक है। केवल उन्हीं विषाणुओं का चयन करना आवश्यक है जो सबसे अधिक विश्वसनीय हैं। उनके प्रजनन की विधियों का तथा चारों ओर की परिस्थितियों पर उनके प्रभाव का भी अध्ययन करना आवश्यक है। सोवियत संघ, अमरीका, कनाडा, इंगलैंड, फ्रांस तथा अन्य कई देशों के वैज्ञानिकों ने अत्यन्त आशाजनक परिणाम प्राप्त किये हैं। यूक्रेन व मोल्दाविया के विषाणु-विशेषज्ञों ने गोभी को नष्ट करने वाले जीवों में पायी जाने वाली जंतुमारी का अध्ययन करके, उनको नष्ट करने के लिए ग्रानुलेज के विषाणुओं का प्रयोग किया। जंगलों की बांज पर उग आये कौशेयक से साइबेरिया के कौशेयक की रक्षा करने के लिए, तथा आरी मक्खी से चीड़ की रक्षा करने के लिए, नाभिकीय पालिएड्रोज के विषाणुओं का प्रयोग किया गया। वे पेड़, जिन पर मृत कीटों-स्वामियों के कोशिका-युक्त विषाणुओं का निलंबन छिड़का गया हो, जंतुमारियों का केन्द्र बन जाते हैं। सर्वप्रथम इन पेड़ों के आसपास के कीट नष्ट हो जाते हैं और उसके बाद बागों व जंगलों के दूर के हिस्सों में स्थित कीट नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार विषाणु अपने कार्य द्वारा वनस्पतियों की रक्षा करते हैं।

मनुष्य, जन्तु तथा विषाणु

असफल प्रत्याक्रमण. हांगकांग विषाणु की सर्वप्रथम जानकारी 12 जुलाई 1968 को मिली थी। लंदन के समाचार-पत्र "टाइम्स" में यह खबर छपी कि चीन के दक्षिण-पूर्व में अंजीना की महामारी फैल गयी है। अगस्त माह के आरम्भ में ऐसी ही महामारी हांगकांग में भी फैली। यह रोग, जो कि वास्तव में फ्लू था, बड़ी तेजी से आस-पास के इलाकों में फैलने लगा। सितम्बर 1968 से मार्च 1969 तक इस फ्लू से करीब एक अरब व्यक्ति पीड़ित हुए तथा कई लाख व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी।

यह नया विषाणु कहां से आ गया ? और, अगर वह पहले से ही था, तो कहां छिपा था ? इससे इतनी अधिक संख्या में लोग क्यों बीमार हो गये ? फ्लू के प्रति रोधक्षमता यहां क्यों नहीं काम में आयी, जबकि विश्व की अधिकांश जनसंख्या फ्लू से पहले भी बीमार हो चुकी थी ? दवाइयों की गोलियां, पुड़ियां तथा अन्य साधन सहायक क्यों नहीं हुए ? इस प्रकार के बहुत सारे प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक था।

यह अवश्य सच है कि 1918 की भयंकर महामारी तथा उसके बाद की बहुत सारी महामारियों की तुलना में, इस नयी महामारी से मरने वाले लोगों की संख्या कम थी। परन्तु इसका श्रेय केवल विषाणु-वैज्ञानिकों को ही नहीं जाता है। बहुत से देशों में जीवन-स्तर की परिस्थितियों में परिवर्तन तथा स्वास्थ्य व सफाई के विशेष प्रबंध ने इस रोग के आक्रमण को क्षीण कर दिया। परन्तु चिकित्सक फिर भी लोगों को पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन न दे सके।
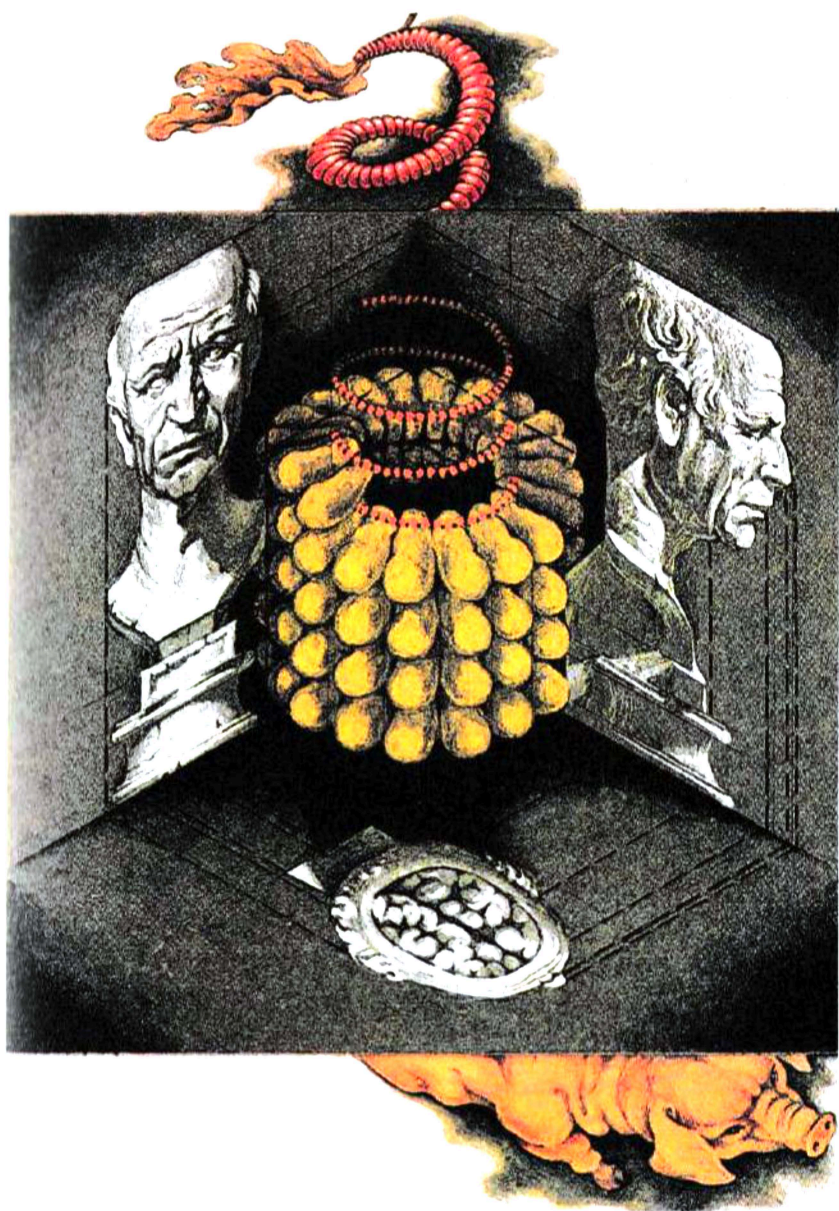
बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के अंत में, सोवियत तथा अमरीकी वैज्ञानिकों ने फ्लू के दो प्रमुख उत्तेजकों—A व B विषाणु—को खोज-कर क्षीण प्रकृति वाले विषाणुओं को बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त करने की विधि ढूंढ़ निकाली। ये विषाणु रोग उत्पन्न करने योग्य नहीं होते थे तथा रोधक्षमता पैदा कर देते थे। बड़े पैमाने पर टीका लगाना शुरू करके, वैज्ञानिक लोग फ्लू पर शीघ्र विजय प्राप्त करने की आशा करने लगे थे। किसी को भी अप्रत्याशित परिणामों का आभास नहीं हुआ था। रोधक्षमता के सिद्धांत बहुत समय से ज्ञात थे तथा चेचक, खसरा, पागलपन, आदि, रोगों के विषाणुओं पर टीके द्वारा पूर्णतः विजय प्राप्त की जा चुकी थी। परन्तु टीके द्वारा फ्लू पर नियंत्रण नहीं किया जा सका, रोगियों की संख्या तनिक भी कम न हुई।

छलावरण. पिछली शताब्दियों में भी फ्लू की बीमारी ने आतंक मचाया था। परन्तु इसके उद्दीपक को केवल सन 1933 में ही ढूंढ़ा जा सका। फ्लू से पीड़ित रोगियों से फैलने वाले विषाणु, भिन्न प्रकृति के प्रतीत होते थे। ग्रन्थि-विषाणु, रेओविषाणु, पैरामिक्सो-विषाणु, नीनो-विषाणु, आदि, जैसे दसियों विषाणु बुखार, सिर दर्द, हरारत, इत्यादि, उत्पन्न कर देते थे। यह स्पष्ट हो गया कि इतने अधिक प्रकार के विषाणुओं को एक या अनेक टीकों द्वारा भी नहीं रोका जा सकता।

वैज्ञानिकों ने अपने शोधकार्यों के समस्त भंडार का प्रयोग करके, विशेषतः सीरमी शोधकार्य चलाकर, यह परिणाम प्राप्त किया कि फ्लू के विषाणु का प्रोटीन-आवरण तीन प्रकार का होता है। आवरण के प्रकार के आधार पर विषाणुओं को A, B तथा C नाम दिया गया। सौभाग्य से यह ज्ञात हुआ कि फ्लू की उक्त प्रकार की महामारी फैलाने का दोषी केवल A विषाणु है। B फ्लू कहीं कम पाया जाता है और C फ्लू तो उससे भी कम।

मनुष्य अथवा जंतु का शरीर सर्वप्रथम प्रोटीन-आवरण के सम्पर्क
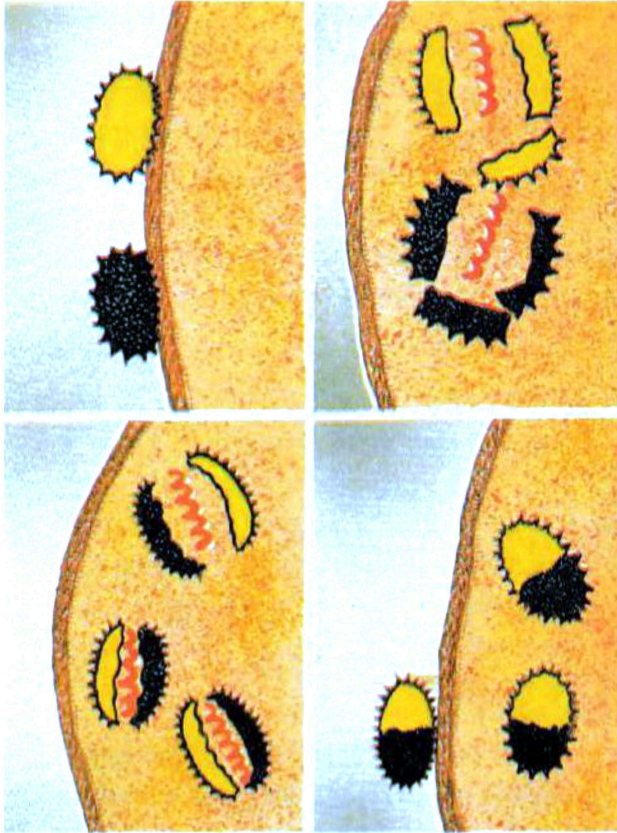
विभिन्न प्रकार के प्रोटीन-आवरणों वाले फ्लू के विषाणु कोशिका में प्रवेश कर जाते हैं। इसके फलस्वरूप प्रकृति में मिश्रित आवरणों वाले विषाणु उत्पन्न हो जाते हैं।

में आता है, न कि उसके नीचे छिपे न्यूक्लीक अम्ल के सम्पर्क में। यह विषाणु-आवरण ही होता है जिसके विरुद्ध प्रतिकायों का निर्माण होता है, जो विषाणु की सक्रियता में बाधा उत्पन्न करते हैं। फ्लू के विषाणु

की पहचान करने के लिए रोगी के रक्त से सीरम तैयार करते हैं। फिर उसे निष्क्रिय सीरम-पदार्थों से शुद्ध करके, उसकी अलग-अलग मात्रा को विभिन्न प्रकार के फ्लू के विषाणुओं के साथ मिलाते हैं—यह ज्ञात करने के लिए कि कौन-सा विषाणु निष्क्रिय हो गया है (अर्थात वैसा ही हो गया है जैसाकि रोगी के रक्त में स्थित है)। प्रत्येक मिश्रण को मुर्गी के भ्रूण में प्रवेश कराते हैं। उस भ्रूण में ही, जिसमें विषाणुओं का प्रजनन नहीं होता है, प्रतिकाय व उस विषाणु का मिश्रण होता है, जो मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके उसका प्रतिकाय निर्मित करता है।

A फ्लू के विषाणुओं पर आगे के शोधकार्यों ने यह दर्शाया कि उसके आवरण में दो मुख्य प्रोटीन स्थित होते हैं जिनके नाम क्रमशः हेमाग्ल्यूटिनिन (X) व न्यूरोमिनीडाज किण्व (H) हैं। इन प्रोटीनों की सहायता से विषाणु कोशिका में प्रवेश कर जाता है (उदाहरण के लिए, न्यूरोमिनीडाज कोशिका के आवरण को नष्ट कर देता है) और शरीर इन प्रोटीनों के विरुद्ध दृढ़ रोधक्षमता उत्पन्न करता है। फिर भी, मनुष्य फ्लू से कई बार क्यों बीमार पड़ जाता है? विषाणु प्रतिकायों को धोखा देकर कोशिका में कैसे घुस जाता है?

यह पता चला कि X तथा H प्रोटीन कई प्रकार के होते हैं। इनको X_0, X_1, X_2, X_3 तथा, H_0, H_1, H_2... चिह्नों द्वारा द्योतित किया गया। यहां यह स्मरणीय है कि अगर किसी निश्चित विषाणु के न्यू-क्लीक अम्ल पर किसी पराये आवरण को "चढ़ा दें", तो विषाणु अपनी सक्रियता नहीं खोता है। प्रजनन की क्रिया के दौरान वह अपने ऊपर जबरदस्ती चढ़ाये प्रोटीनों में से उस प्रोटीन को चुन लेता है, जो उसकी "प्रकृति" के, उसके न्यूक्लीक अम्ल के सर्वाधिक अनुकूल होता है। सभी नियमित विषाणु लगभग ऐसी ही प्रवृत्ति दर्शाते हैं।

फ्लू के विषाणु काफी चतुर निकले। वे हर उस आवरण को,

जिसमें प्रजनन शुरू करते हैं, बनाये ही नहीं रखते—बल्कि उसे भिन्न प्रकार के प्रोटीनों X व H द्वारा थोड़ा-थोड़ा करके बदलते भी जाते हैं। उदाहरण के लिए, अगर विभिन्न आवरणों वाले दो विषाणु—X_0H_1 (1933 वाला विषाणु) व X_3H_2 (हांगकांग फ्लू का विषाणु) —एक ही कोशिका में प्रवेश कर जाते हैं तो उनकी "संतति" में मां-बाप जैसे विषाणुओं के अतिरिक्त, पहले से अज्ञात आवरणों वाले संकर (hybrids) (X_3H_1 व X_0H_2) भी होते हैं। कोशिका इन विषाणुओं के विरुद्ध प्रतिकायों से युक्त नहीं होती है तथा इसीलिए आरक्षित रहती है।

सात स्वामियों के पास एक विषाणु. विषाणुओं के "कपड़े बदलने" के रहस्य को खोलकर, वैज्ञानिक पहले से उत्पन्न विभिन्न प्रश्नों के उत्तर खोज पाने में सफल हो गये। पर इसके साथ-साथ नये प्रश्नों का भी जन्म हुआ। नये आवरण वाले विषाणु उत्पन्न होकर क्यों आवर्ती रूप से आक्रमण करते रहते हैं ? उनकी उत्पत्ति कहां होती है ? वे कैसे उत्पन्न होते हैं तथा किस प्रकार "कपड़े बदलते हैं" ?

क्या यह संभव है कि फ्लू से संक्रमित होने की प्रक्रिया गुप्त रह सकती है ? प्राय:—विशेषत: शरत् काल के आरम्भ में ठंड शुरू होने पर—परिवहन-साधनों में, सार्वजनिक स्थानों में, इस प्रकार की चेतावनी वाले पोस्टर देखे जा सकते हैं : "फ्लू मुंह व नाक के रास्ते फैलता है। कृपया खांसते व छींकते समय मुंह व नाक पर रूमाल रखिए...", आदि। इस प्रकार के सभी निवेदन उचित हैं तथा वे वैज्ञानिक शोध-कार्यों के परिणामों पर आधारित हैं। फ्लू के विषाणु का प्रजनन ऊपरी श्वसन-मार्ग की कोशिकाओं में होता है तथा खांसते, छींकते व बोलते समय वे लार की बूंदों के साथ चारों ओर बिखर जाते हैं। आसपास मौजूद लोग इस संक्रमित वायु में सांस लेते हैं और परिणामस्वरूप स्वयं विषाणुवाहक बन जाते हैं। बाद में वे ही फ्लू के रोगी हो जाते हैं। इस

प्रकार थोड़े से समय में ही संक्रमण शहरों, प्रांतों व देशों में फैल जाता है। कुछ समय वीतने के पश्चात महामारी अगले हमले तक शांत हो जाती है।

पर महामारियों के वीच जो शांत समय होता है, विषाणु उसके दौरान लुप्त नहीं होता है। अब वह गुप्त रूप में निवास करता है। कोशिकाओं को उत्पन्न कर उन पर किये विभिन्न जटिल शोधकार्यों के आधार पर यह सिद्ध किया गया कि महामारी के कई वर्षों बाद भी विषाणु जीव में जीवित रहता है। इस बात की सच्चाई जांचने के लिए पालतू जानवरों का अध्ययन किया गया। घोड़े, गायें, सुअर, पीरु मुर्ग, बत्तखें, मुर्गियां, आदि, पालतू पशु-पक्षी फ्लू से पीड़ित होते हैं (कुत्तों व बिल्लियों की बीमारी के कारण अभी अज्ञात हैं)। मनुष्य के विषाणुओं से जानवर तथा जानवरों के विषाणुओं से मनुष्य संक्रमित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, ये विषाणु ऐसे संकरों का निर्माण कर सकते हैं जिनके विरुद्ध कोशिकाओं में प्रतिकाय नहीं होते हैं।

यहां इस बात को स्मरण रखना आवश्यक है कि फ्लू की नयी महामारियां व विश्वमारियां अक्सर दक्षिण-पूर्व एशिया में जन्म लेती हैं, जहां लोग आज भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक वातावरण में रहते हैं, जहां मनुष्य सदा जानवरों के निकट सम्पर्क में आते रहते हैं—विशेषतः सुअरों के। विषाणुओं के संकर सुअरों में उत्पन्न होकर इकट्ठे होते रहते हैं। 1931 में ही अमरीकी विषाणु-वैज्ञानिक आर. आइ. शोऊप ने इस

एक परिकल्पना के अनुसार प्रकृति में फ्लू-विषाणुओं के प्रसार का कारण : सुदूर महासागर में फ्लू-विषाणुओं का प्राकृतिक स्रोत—जीवप्लवक—स्थित है। पक्षी उड़कर विषाणुओं को गर्म जलवायु वाले इलाकों में ले जाते हैं तथा मार्ग में अन्य पक्षियों को भी रोगी बना देते हैं; मच्छर लोगों और जानवरों को काटते समय उनको विषाणुग्रस्त बनाते हैं। विषाणु जंतुओं के शरीर में घूमते रहते हैं जहां नये आवरणों की उत्पत्ति संभव होती है; विषाणु मनुष्यों में फैल जाते हैं।

बात की ओर संकेत किया कि फ्लू के विषाणु प्रकृति में मनुष्य के बिना भी संचरित हो सकते हैं। इस वैज्ञानिक की परिकल्पना के अनुसार, सुअर के फेफड़ों के अन्दर स्थित परजीवी सूत्रकृमि (nematode) विषाणु द्वारा संक्रमित हो जाते हैं। विषाणु नेमाटोडों के अंडों के साथ मल के रूप में सुअर के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, जहां नेमाटोड विकसित होते हैं। सुअर जमीन खोद-खोद कर इन केंचुओं को तथा विषाणुयुक्त नेमाटोडों को खाते जाते हैं। आज इस परिकल्पना के हिमायतियों की संख्या कम है। परन्तु अपने समय में शोधकर्ताओं के विचारों को एक नयी दिशा दिखाकर इस परिकल्पना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

दूसरी परिकल्पना अधिक आधुनिक है, जिसके जन्मदाता अखिल-विश्व-फ्लू-अध्ययन-केन्द्र के निर्देशक डाक्टर जी. एस. शील्ड तथा प्रोफेसर आर. यू. न्यूमान हैं। इस परिकल्पना के अनुसार, पक्षी फ्लू के विषाणुओं के सर्वप्रथम व सर्वाधिक प्राचीन स्वामी हैं। पक्षियों के शरीर में विषाणु कई महीनों तक बिना कोई लक्षण दिखाये जीवित रह सकता है। इस काल में बहुत सारे पक्षी दक्षिण अफ्रीका व अमरीका के बिल्कुल दक्षिणी भाग से उत्तरी शीत महासागर के किनारों तक की कई हजार किलोमीटर दूरी तय कर सकते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी इंगलैंड व दक्षिणी अफ्रीका के पक्षियों में एक जैसे समय में समान प्रकार के विषाणु मिलते हैं।

यहां यह कहना आवश्यक है कि ऊपर वर्णित तथा इसी प्रकार की अन्य परिकल्पनाएं फ्लू की उत्पत्ति व प्रसार की कुछ घटनाओं को स्पष्ट नहीं कर पायी हैं। सभी वैज्ञानिक इस बात से सहमत नहीं कि जानवर तथा मनुष्य विषाणु के प्रचलन की एक कड़ी से परस्पर जुड़े हैं।

विषाणु तथा ठंड की बीमारी. जुकाम, श्लेष्मा, कंठशूल, ऊपरी श्वसन-मार्ग के नजले आदि को फ्लू का सम्बंधी माना जा सकता है— यद्यपि ये इतने शक्तिशाली नहीं हैं। ये बीमारियां भी विषाणुओं,

अधिकांशत: रीनोविषाणुओं (rhinoviruses) द्वारा उत्पन्न होती हैं। ये विषाणु सर्वाधिक सूक्ष्म आकार के और साधारण प्रकृति के होते हैं तथा नासाग्रसनी की कोशिकाओं में रहने के आदी हो जाते हैं। ऑक्सीजन तथा थोड़ा निम्न तापमान, इनके जीवन व विकास के लिए अत्यंत लाभ-दायक होते हैं। खांसी तथा जुकाम उस रोग के लक्षण हैं जो उद्दीपक को फैलाने में सहायक सिद्ध होता है। ऐसा लगता है कि ये बातें कितनी आसानी से समझी जा सकती हैं! परन्तु ठंड के विषाणुओं की भी निजी प्रकृति होती है तथा उनके रहस्यों को समझना प्राय: आसान कार्य नहीं होता। उदाहरण के लिए, प्रतिश्याय के एक ही समय में विभिन्न क्षेत्रों में फैल जाने का कारण थूक के बिखरने से विषाणुओं का फैल जाना नहीं बताया जा सकता। या यही तथ्य देखिए कि रोगी के चारों ओर रहने वाले लोगों में से लगभग 20% ही इस प्रकार के रोग से पीड़ित होते हैं, न कि सभी; या एक ही प्रकार के श्लेष्मा रोग से जाड़ों में अनेक बार बीमार हो जाना—जैसे कि प्रकृति में रोधक्षमता नाम की कोई चीज होती ही नहीं।

और तो और, मनुष्य के चारों ओर के वातावरण के तापमान के निम्न होने तथा विषाणुओं की सक्रियता बढ़ने की क्रिया को कई बार एक-दूसरे से सम्बंधित नहीं किया जा सकता। ऐसा समझा जाता है कि ठंड की बीमारियों के उत्पन्न होने का कारण कमजोर शरीर को अधिक ठंड लग जाना तथा अनुकूल अवस्थाएं होने के कारण विषाणुओं की उत्पत्ति होना है—हालांकि ध्रुवीय अन्वेषक, कड़ाके की ठंड में रहते हुए भी, खांसी-जुकाम, आदि, रोगों से बीमार नहीं होते हैं। परन्तु जैसे ही ये अन्वेषक महाद्वीप पर लौटते हैं, उपोष्ण क्षेत्रों में कड़ी गर्मी होने पर भी उनको ठंड लग जाती है। कुछ लोगों को, जिन्होंने स्वयं को प्रयोग के लिए प्रस्तुत किया, प्रतिश्याय से बीमार करने के लिए विभिन्न तरीकों से ठंड में रखा गया, पर वे बीमार नहीं हुए।

कुछ भी कहें, शरत् तथा शीत ऋतु में ठंड के आरम्भ होने तथा

श्वसन अंगों के पीड़ित होने के क्रम में वृद्धि—इन में पारस्परिक सम्बन्ध है। इस घटना की व्याख्या करने के लिए विभिन्न परिकल्पनाएं प्रस्तुत की गयी हैं। आर्द्रता परिवर्तन, वायु की गति की तीव्रता, तथा विषाणुओं का गर्म कपड़ों पर प्रकट हो जाना, जहां वे ग्रीष्मकाल में छिपे रहते हैं, आदि—ये रोग फैलने के कुछ कारण बताये जाते हैं।

रोधक्षमता तंत्र—जिसमें लसीका संधियां, मज्जा, प्लीहा, थाइमस-ग्रंथि सम्मिलित हैं—सिद्धान्ततः, सक्रिय प्रतिरक्षा ग्लोबुलिनों (प्रतिकाय, लिम्फोसाइट, आदि) का निर्माण करके किसी भी सूक्ष्म जीव के आक्रमण का सामना करने की क्षमता से सम्पन्न होते हैं। फिर भी, मानसिक तनाव होने पर, अत्यधिक अथवा शक्ति से परे कार्य करने पर, ठंड लग जाने, आदि, पर, जीव की अपनी रक्षा करने की क्षमता कई गुना कम हो जाती है। ऐसी दशा में विषाणु, जो जीव में बिना आभास दिये पहले से ही छिपे बैठे होते हैं, क्रियाशील हो उठते हैं तथा जीव को रोगी बना देते हैं।

विभिन्न संक्रामक रोगों के विरुद्ध टीकों को, रोधक्षमता-तंत्र को सुदृढ़ करने के अभ्यास की एक विधि ही समझा जा सकता है। वैज्ञानिक तथा चिकित्सक, सर्वाधिक भयंकर शत्रुओं से मनुष्य की रक्षा करने के उपाय ढूंढ़ते रहे हैं। पर अन्य सैकड़ों बीमारियों से कैसे निपटा जाये? उन असंख्य विषाणुओं का सामना किस प्रकार किया जाये, जो ठंड की बीमारियां फैलाते हैं तथा जिनसे बचाव के लिए टीके नहीं लगाये जाते हैं।

इसके लिए सर्वप्रथम रोधक्षमता-तंत्र की प्रतिरक्षा सामर्थ्य का बना रहना आवश्यक है। जीव के प्रतिरक्षा-तंत्र को अपना कार्य भली-भांति करते रहने का अभ्यास कराना आवश्यक है। शारीरिक कार्य, समय-

श्वसन-संक्रमण बड़ी-बड़ी बूंदों द्वारा कम दूरी तक, छोटी-छोटी बूंदों द्वारा अधिक दूरी तक तथा धूल के रास्ते काफी समय बीत जाने के बाद भी फैल जाता है।

समय पर निश्चित अनुपात में ठंड का अभ्यास (खेलकूद, शीतोष्ण उपचार), आदि, अनुकूल शरीर क्रियात्मक स्ट्रेस हैं, जो शरीर पर बिना अधिक जोर डाले उसके रक्षातंत्र को अपने कार्य का अभ्यस्त बनाते हैं। रोधक्षमता-तंत्र के भली-भांति कार्य करने के लिए अन्य अनुकूल परिस्थितियां निम्नलिखित हैं : ताजा सब्जियों से बना खाना, संतोष-दायी मनोदशा, अच्छी नींद और शरीर की सही देखभाल। इस संबंध में एक कहावत है—जीव खुद ही अपना चिकित्सक है। आधुनिक विज्ञान भी सदियों से चली आ रही इस कहावत से सहमत है।

अतिघातक विषाणु. मनुष्यों तथा जन्तुओं में विषाणुओं द्वारा उत्पन्न बहुत सारे दूसरे रोगों की तुलना में जलाक एक साधारण रोग माना जा सकता है, जबकि पीत ज्वर—जिसने पश्चिमी व मध्य अफ्रीका में योरपीय उपनिवेशवादियों को दहला दिया था—अति भयंकर रोगों में से एक है। यह रोग केवल सफेद चमड़ी वाले लोगों को ही अपना शिकार बनाता था, तथा—जैसा कि देखा गया—स्था-नीय निवासियों पर उसका कोई असर नहीं होता था। ऐसा लगता था जैसे कि अपमानित स्थानीय निवासियों की रक्षा करने के लिए काल्प-निक रक्षक आ गये थे जो बिना बुलाये मेहमानों (उपनिवेशवादियों) को कड़ी सजा दे रहे थे।

रोग का आरम्भ शरीर का ताप बढ़ने से होता है। अब यह ज्ञात हो चुका है कि तीव्र ज्वर द्वारा जीव अपने अन्दर घुसे विषाणुओं का मुकाबला करता है। परन्तु यहां इस प्रतिरोध का कोई लाभ नहीं हुआ। उल्टी, पीठ में दर्द, फिर पीलिया, दोबारा उल्टी (पर इस बार खून वाली), सन्निपात, यकृत की खराबी तथा—इन सब के परिणामस्वरूप —अंत में मृत्यु। 1793 से 1900 तक इस रोग द्वारा कम से कम 5 लाख लोगों की मृत्यु हुई। 17-वीं शताब्दी के मध्य में पीत ज्वर की महामारी अमरीकी महाद्वीप में और उसके बाद योरप में फैल गयी।

यह नहीं कहना चाहिए कि पीत ज्वर से अफ्रीका के मूल निवासी पीड़ित नहीं होते हैं। उदाहरण के रूप में, 1940 में यह रोग सूडान में तथा 1960-1962 में इथियोपिया में फैल गया था जहां बड़े पैमाने पर टीके लगाना शुरू करने के पूर्व ही 15 हजार व्यक्तियों की इस रोग से मृत्यु हो गयी थी।

पीत ज्वर या पीले बुखार का उत्तेजक, आर्बोविषाणु (arbovirus) ग्रुप में आता है जिसके अंतर्गत जापानी एन्सेफलाइटिस, एफैराइना एन्सेफलाइटिस, घोड़े की एन्सेफलाइटिस, रक्तस्रावी ज्वर, डेंगू, आदि, रोगों के विषाणु आते हैं। इस ग्रुप में 300 से अधिक प्रकार के विषाणु (प्रत्येक अपने इलाके में) होते हैं। इन इलाकों के मूल निवासी इन विषाणुओं के प्रति रोधक्षमता रखते हैं जिस कारण विषाणुओं का उन पर कोई असर नहीं होता, पर वे उनके वाहक हो सकते हैं। नये अतिथियों—जैसे कि एच. जी. वेल्स के उपन्यास "विश्वों का युद्ध" में मंगलवासियों—को तो मौत का खतरा रहता ही है। इस तथ्य को जानकर हमें पर्यटकों, नये इलाकों के प्रथम अन्वेषकों, के साहस की और भी अधिक प्रशंसा करनी चाहिए क्योंकि वे अनजाने रास्तों पर शारीरिक कष्टों को ही नहीं भुगतते, बल्कि इसके साथ-साथ विषाणुओं द्वारा उत्पन्न अत्यन्त घातक वाधाओं का भी सामना करते हैं।

सुदूर पूर्व तथा साइबेरिया के तैगा के इलाकों में एन्सेफलाइटिस एक अत्यंत घातक रोग समझा जाता है। संक्रमित चिचड़े के काटने के 10-12 दिन बाद रोग आरम्भ हो जाता है। सर्वप्रथम पेशियों में कमजोरी महसूस होती है, त्वचा के विभिन्न भाग सुन्न हो जाते हैं तथा ज्वर हो जाता है। इसके पश्चात, कंधे की मांसपेशियों को फालिज पड़ना आरम्भ हो जाती है तथा खोपड़ी की नसें क्षतिग्रस्त होती जाती हैं। मध्य एशिया में ऐसे चिचड़े पाये जाते हैं, जो टाइफस से मिलते-जुलते रोग के उत्तेजकों का वहन करते हैं। अधिकांशत: चिचड़े गुफाओं में या सुनसान उजड़े घरों में छिपे रहते हैं। जो भी व्यक्ति वहां रात

गुजारता है, बुरी तरह से रोगी हो जाता है तथा उसकी बीमारी भयंकर अफवाहों को जन्म देती है।

पीत ज्वर के चक्र. रोगजनकों (उत्तेजकों) तथा उनके वाहकों को ढूंढ़ने का कार्य अत्यधिक जटिल तथा खतरनाक है। वैज्ञानिक अपनी जान को जोखिम में डालकर उन कीटों की अपने शरीर पर प्रक्रिया कराते हैं, जिन पर विषाणु-वाहक होने का सन्देह होता है। जैसे, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पीत ज्वर के उत्तेजक का अमरीकी शोधकर्ताओं डब्लू. रीड, जे. करोल, ए. अग्रामोन्ट तथा जे. लेजीर ने मुकाबला किया। इस बात का अनुमान लगाकर कि इस रोग का संक्रमण एक विशेष प्रकार के मच्छर द्वारा होता है, जे. लेजीर ने इस मच्छर को हाथ में पकड़े रखा, जिससे लेजीर संक्रमित होकर मृत्यु के शिकार हो गये।

विषाणु-वैज्ञानिक, जो प्रकृति के इस जगत का रहस्य जानने का प्रयास करते हैं, जासूस की भांति होते हैं, जो दुश्मन की तोपों की स्थिति जानने के लिए खुद सामने आ जाते हैं तथा गोलों-गोलियों की बौछार सहते हैं। सोवियत वैज्ञानिकों ने भी जीवन को खतरे में डालकर एन्सेफलाइटिस का मुकाबला किया। सन् 1937 में एल. जीलबर, एम. चुमाकोव, आइ. लेवकोविच, व्ही. सोलोव्योव को चिचड़ों द्वारा एन्सेफलाइटिस के विषाणु को ढूंढ़ने में सफलता मिली। इस खोज के बल पर इस रोग के टीके के निर्माण की समस्या हल हो गयी। आज उन भूवैज्ञानिकों, भवन-निर्माताओं, आदि, सभी को, जो सोवियत संघ के तैगा में काम करने जाते हैं, इन्सेफलाइटिस का टीका अवश्य लगवाना पड़ता है।

पीत-ज्वर के विषाणु का प्रसार : विषाणु जंगल में बंदरों व मच्छरों के अन्दर जीवित रहता है, बंदर मच्छरों को मनुष्य के सम्पर्क में ले आते हैं, मच्छर विषाणुओं को मनुष्यों के अन्दर फैला देते हैं।
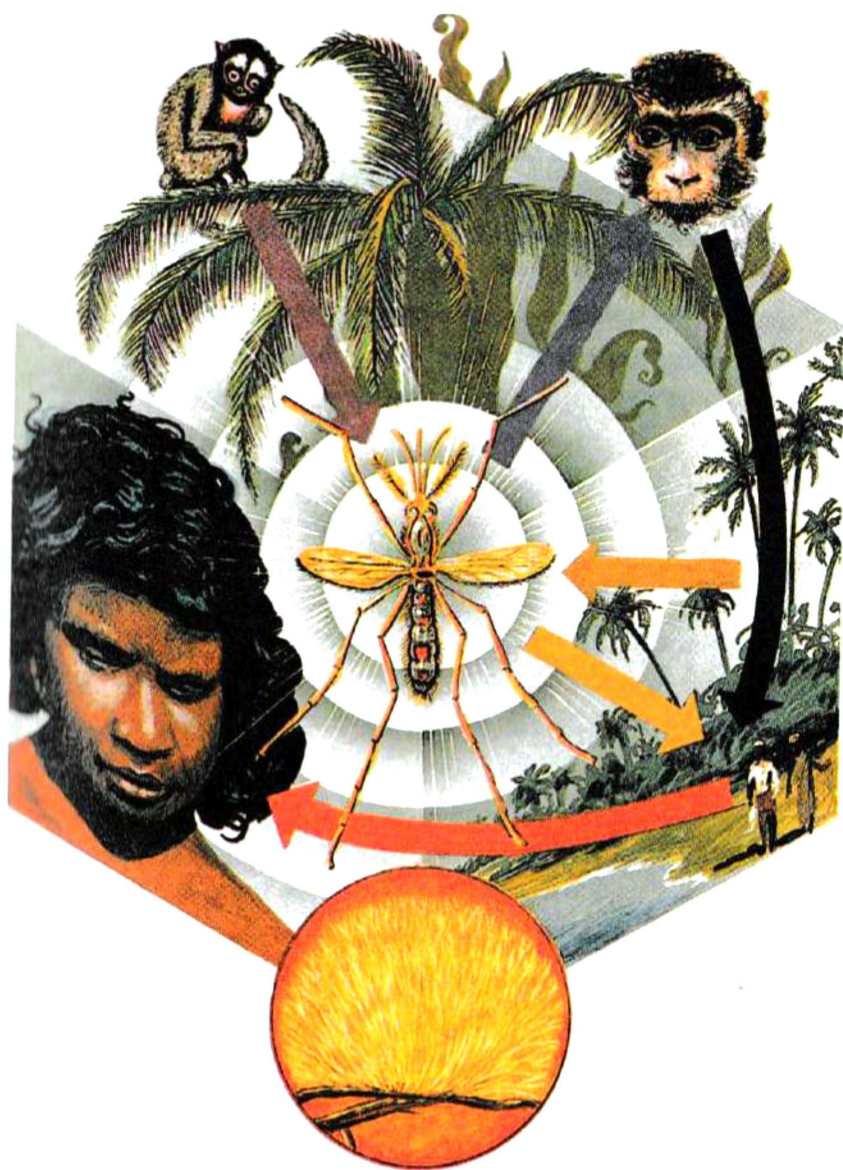
आरम्भ में खतरनाक विषाणुओं के वाहक-कीटों की खोज होने के बाद, यह समझा जाता था कि इन कीटों को अगर नष्ट कर दिया जाये तो रोग भी मिट जायेगा। उत्तरी व दक्षिणी अमरीका में पीत ज्वर के उन्मूलन का कार्यक्रम बनाया गया। यह उम्मीद थी कि बड़े शहरों में, जैसे ही सारी जनता को टीका लगा दिया जायेगा, इस रोग का विषाणु स्वामीरहित हो जायेगा। बीमारी की अलग-थलग घटनाएं खतरनाक नहीं होंगी, क्योंकि विषाणु-वाहक—मृत होकर या रोध-क्षमता पाकर—विषाणु को दूसरे व्यक्ति तक किसी भी तरह नहीं पहुंचा पायेगा। कम आबादी वाली बस्तियों में भी इस रोग का विषाणु, महामारी के मिटते ही, खत्म हो जायेगा। ये सब अनुमान पूर्णतः सत्य निकले। कुछ वर्षों तक विषाणु कहीं भी दिखायी नहीं दिया। लोग बीमार नहीं हुए—और इसका मतलब था कि रोगकारियों की उत्पत्ति नहीं हुई तथा मच्छरों को फैल सकने के लिए कुछ भी नहीं मिला। परन्तु, पीत ज्वर एक बार फिर नये सिरे से प्रकट हुआ। रोग के उन्मूलन के कार्यक्रम में जो विचार रखे गये थे, उनमें कोई विशेष कमी रह गयी थी। बहरहाल, शीघ्र ही वैज्ञानिकों को अपनी गलती का पता चल गया कि विषाणु का एक और स्वामी था—बंदर। अन्य नये वाहकों का भी पता चला, जैसे कि मच्छर, जो कि पेड़ों पर रहते हैं तथा जंगल में कटाई का काम करने वाले लोगों को काट लेते हैं।

पर ये शोधकार्य यह समझाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं कि कई महीनों तक सूखा पड़ने पर मच्छर (रोगकारियों के ज्ञात वाहक) जब मर जाते हैं और विषाणु के स्वामी समाप्त हो जाते या स्वस्थ हो जाते हैं, तब विषाणु कहां रहते हैं। इसी कारण, विशेषज्ञ लोग कशेरुकियों के बीच नये संभव स्वामियों को तथा कीटों के बीच नये वाहकों को ढूंढ़ने में व्यस्त हैं। यह भी संभव है कि पीत ज्वर के चक्र में पक्षी भी भाग लेते हों—जिस प्रकार वे सारी दुनिया में एन्सेफलाइटिस के विषाणुओं वाले चिचड़े को फैलाते हैं जो कि आर्बोविषाणु ग्रुप का सदस्य है।

विषाणु-रोगों से मर जाने वाले लोग विषाणु-प्रजनन की कड़ी में मृत शाखा होते हैं, अर्थात उनमें विषाणुओं का प्रजनन नहीं होता। विषाणु, उसके द्वारा पीड़ित जीव सहित, नष्ट हो जाता है और यह सामान्य प्रकृति के लिए अस्वाभाविक बात है। नियत विषाणुओं के जीवित रहने के लिए विशेष—बिल्कुल निश्चित—परिस्थितियां चाहिए। जहां तक आर्बोविषाणुओं का प्रश्न है, तो उनका जीवन बहुत-सी परिस्थितियों पर निर्भर करता है तथा उनकी प्रतिकृति में घटकों की अपेक्षाकृत अधिक संख्या भाग लेती है। अगर आवश्यक परिस्थितियों में से एक की भी कमी रह जाये, तो विषाणुओं की मृत्यु हो जाती है। यही कारण है कि बहुत सी छूत की बीमारियां सीमित, स्थानीय प्रकृति की होती हैं। जैसे, पीत ज्वर का विषाणु सौभाग्यवश एशिया में, तथा जापानी एन्सेफलाइटिस का विषाणु अफ्रीका में नहीं घुस पाता है।

कुछ बाल-रोग. महामारियों तथा भयंकर रोगों से संघर्ष के फल-स्वरूप उनमें बहुत तेजी से कमी आयी। इनके साथ-साथ बच्चों के संक्रामक-रोगों की संख्या भी काफी कम हो गयी। आज विषाणुओं द्वारा उत्पन्न "हल्के" रोग—जैसे, गलसुआ, चिकेन पाक्स, खसरा, मीजिल्स, आदि—काफी कम देखने को मिलते हैं।

मां में जो रोधक्षमता होती है, उसका कुछ अंश नवजात शिशु को भी मिल जाता है। परन्तु एक साल की आयु पूरी होते-होते शिशु की यह रोधक्षमता समाप्त हो जाती है। इसी कारण सोवियत संघ में सभी बच्चों की सुरक्षा के लिए टीके (अधिकांश स्थितियों में इंजेक्शन के रूप में) लगाये जाते हैं। फिर भी, समय-समय पर अकेला बच्चा या सामूहिक रूप से बहुत सारे बच्चे बीमारियों के शिकार होते रहते हैं। इन रोगों में से एक को, जिसे बाल-रोगों में दूसरा स्थान प्राप्त है, बहुत सही नाम दिया गया है—हवाई चेचक (रूसी में वेत्र्यानाया ओस्पा—चिकेन पाक्स)। यह सच है कि विषाणु-विज्ञान की दृष्टि से

इस बीमारी का उद्दीपक प्राकृतिक चेचक से किसी प्रकार भी संबंधित नहीं है, परन्तु शब्द "हवाई" बहुत समय से अवलोकित इन तथ्यों की पुष्टि करता है कि अगर कोई व्यक्ति इस रोग के रोगी से कुछ मीटर दूर, यहां तक कि अगर साथ के कमरे या घर में भी है, तो वह इस रोग का शिकार हो जायेगा। चिकेन पाक्स, खसरा, गलसुआ, मीजिल्स, आदि, रोगों के उत्तेजक, हवा में थूक के नन्हें छींटों के सहारे फैलते हैं तथा इनको फैलाने के स्रोत रोगी होते हैं। इस प्रकार के विषाणु अधिक दृढ़ व शक्तिशाली नहीं होते। रोगी-व्यक्ति के शरीर के बिना, वे सामान्य वातावरण में भी मर जाते हैं। इसी कारण, इन उद्दीपकों को नष्ट करने के लिए कमरे (घर) की सफाई ही काफी होती है। शरीर को तथा अन्य वस्तुओं को पोटेशियम परमेंगनेट, बोरिक एसिड व अन्य प्रसाधनों द्वारा धोकर इन्हें नष्ट किया जा सकता है।

विषाणु श्वसन-अंगों में घुसकर अपनी प्रकृति के हिसाब से निश्चित कोशिकाओं को संक्रमित कर उन पर प्रहार करता है (नाक की श्लेष्मल झिल्ली, आन्तरिक अंगों, आदि, पर)। प्रत्येक लक्षण के आधार पर अलग-अलग प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, गलसुआ को यह नाम इसलिए दिया गया कि इसका उत्तेजक कर्ण की ग्रन्थियों के पास वाले क्षेत्र में रहता है तथा ये ग्रन्थियां फूल जाती हैं। खसरे (जर्मन मीजिल्स) की खास पहचान यह है कि लसीका-ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं, चित्तियां निकल आती हैं और ज्वर हो जाता है। मीजिल्स के स्पष्ट लक्षण गोचर होने से पूर्व इसकी पहचान, गालों की श्लेष्मल झिल्ली पर सफेद धब्बों से की जा सकती है। कुछ समय पश्चात रोगी की दशा सुधरती जाती है, रोग के लक्षण अदृश्य होते जाते हैं तथा रोगी स्वस्थ हो जाता है।

परन्तु कुछ संक्रामक रोग, जैसे फ्लू, गम्भीर परिणाम भी सामने ला सकते हैं। इसकी वजह यह है कि विषाणु से मुकाबला करने के

कारण जीव में जीवाणु से रक्षा करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि आज इन "हल्के" रोगों से मुक्ति पाने के लिए प्रभावकारी टीकों के निर्माण का कार्य बड़े जोर-शोर से चल रहा है।

गुप्त संक्रमण. डाक्टर सभी संक्रामक रोगों में चिकेन पाक्स को सबसे हल्का रोग समझते हैं। इस रोग के दौरान, त्वचा के विभिन्न स्थलों पर तथा मुंह की श्लेष्मल झिल्ली पर लाल धब्बे प्रकट हो जाते है जो कुछ घंटों बाद पारदर्शक द्रव से भरी फुन्सियों का रूप धारण कर लेते हैं। इसके पश्चात ये फुन्सियां सूख जाती हैं। परन्तु स्वयं उत्तेजक, जीव के अंदर रह जाता है। चिकेन पाक्स का विषाणु मनुष्य के तंत्रिका ऊतक में कई वर्षों तक छिपा रहता है। और, जब सक्रिय होने का समय आता है, तब विषाणु तंत्रिका के सहारे त्वचा तक पहुंच जाता है तथा सीमित स्थान पर चित्तियां (दाने) उत्पन्न कर देता है जो दाद की एक विशेष पहचान है। इस प्रकार, चिकेन पाक्स का विषाणु अपने को एक जीव के अंदर कई वर्षों तक जीवित रखने के लिए स्वयं को अनुकूलित कर लेता है।

गुप्त निवास कुछ अन्य विषाणु-संक्रामकों को भी बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जैसे साधारण जुलपित्ती (herpes)—जिसमें होठों पर "ज्वर-संबंधी" फुंसियां प्रकट हो जाती हैं—तथा यकृत-शोथ (संक्रमित पीलिया)।

यह भी तो हो सकता है कि गुप्त संक्रमणों को उत्पन्न करने वाले विषाणु, मनुष्य के परजीवी तभी बन गये हों जब लोग छोटे-छोटे समाज बनाकर रहते थे। पर, चेचक तथा खसरे के विषाणु शायद ही अलग-थलग आदिम जन-जातियों के बीच होते होंगे। गुप्त निवास में असमर्थ होने के कारण, सभी स्वामियों में रह चुकने के बाद उन्हें लुप्त हो जाना चाहिए था। इस प्रकार के विषाणुओं के जीवित रहने के लिए कम से कम 2 लाख की जनसंख्या चाहिए। चेचक का विषाणु पालतू

जानवरों को रोगी बनाने वाले विषाणुओं से मिलता-जुलता है, तथा खसरे के विषाणु के लक्षण कुत्तों के प्लेग और सींगधारी जानवरों के प्लेग से मिलते-जुलते हैं। यह भी संभव है कि मनुष्य इन विषाणुओं का शिकार तब बना हो, जब उसने इन जानवरों को पालतू बनाना शुरू किया।

पोलियोमायेलिटिस से छुटकारा. विषाणुओं द्वारा उत्पन्न एक दूसरे रोग पोलियोमायेलिटिस (poliomyelitis) की प्राचीनता के विश्वसनीय प्रमाण मिले हैं। मिस्र में इजीदा देवी के मंदिर में एक ऐसे पुजारी की प्रतिमा है, जिसका एक पैर दूसरे से छोटा व पतला है। मिस्र की ममियों की हड्डियों में ऐसे परिवर्तन पाये गये हैं, जिनका कारण पोलियोमायेलिटिस रोग है। ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व, इस महामारी का वर्णन हिप्पोक्रेटस ने भी किया था।

पोलियोमायेलिटिस का विषाणु पिकोना विषाणु-परिवार का सदस्य है जो राइबोन्यूक्लीक अम्ल तथा प्रोटीन आवरण से बना होता है। इन विषाणुओं का प्रजनन प्राय: पाचन-क्षेत्र में होता है, इसी कारण यह आंत्र-विषाणु-ग्रुप के अंतर्गत आता है। परन्तु यह नासाग्रसनी में भी पाया जा सकता है। पोलियोमायेलिटिस के विषाणु आहार-पथ के साथ-साथ श्वसन-पथ द्वारा भी फैलते हैं। यह संक्रमण व्यावहारिक रूप से सभी प्रकार की जलवायु में पाया जाता है; साथ ही, जहां स्वच्छता का स्तर नीचा होता है, वहां यह रोग बड़े पैमाने पर फैलता है। इसका उद्दीपक गंदे हाथों, पानी, भोजन, बिस्तरे की चादरों, मक्खियों, आदि, द्वारा फैलता है।

विषाणु प्राय: सतहवर्ती कोशिकाओं में प्रजनित होते हैं तथा रोग गुप्त रूप से बढ़ता रहता है। परन्तु अगर उद्दीपक रक्त के प्रवाह द्वारा केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र तक पहुंच जाता है, तो वह मेरु रज्जु की कुछ कोशिकाओं को नष्ट कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप रोगी आजीवन

लकवे का शिकार हो सकता है, जिससे मुख्यत: हाथ-पैर की कुछ पेशियां ग्रस्त हो जाती हैं। अधिक भयंकर रोग मृत्यु तक का कारण बन सकता है। सन् 1916 में पोलियोमायेलिटिस की महामारी अमरीका में फैल गयी थी तथा न्यूयार्क में 2000 व्यक्तियों की इससे मृत्यु हो गयी थी और 7000 लोग अपाहिज हो गये थे। बीसवीं शताब्दी के मध्य में इस रोग की महामारियों ने योरप व उत्तरी अमरीका में राष्ट्रीय संकट का रूप धारण कर लिया था। सन् 1956 में 3 लाख लोग इसके कारण अपाहिज हुए। यह रोग सोवियत संघ में भी फैलने लगा।

इस भयंकर शत्रु का मुकाबला करने के लिए आवश्यक उपायों को ढूढ़ना अनिवार्य था। इसके लिए, नवीनतम जीवविज्ञानी उपलब्धियों को प्रयोग में लाया गया। मनुष्य के भ्रूण की कोशिकाओं में तथा बन्दर के गुर्दे की कोशिकाओं में, ऊतकों के परिष्कार की विधि का प्रयोग करके, पोलियोमायेलिटिस के विषाणु के प्रजनन में सफलता प्राप्त की गयी।

रोधक्षमता के लिए दो प्रकार के टीके उपयुक्त पाये गये—फॉर्मेलिन द्वारा मृत तथा जीवित (अशक्त, दुर्बल) विषाणु के। अल्पकाल में बचाव के इस साधन के औद्योगिक स्तर पर उत्पादन का कार्य आरम्भ किया गया। सोवियत संघ, अमरीका व अन्य कई देशों में बड़े पैमाने पर टीके लगाकर हजारों लोगों के जीवन व स्वास्थ्य की रक्षा की गयी (अधिकांशत: यह जीवित विषाणु वाला पोलियोवैक्सीन था)।

पोलियोमायेलिटिस विषाणु तथा पोलियोवैक्सीन का अध्ययन आज भी जारी है। वास्तव में सक्रिय विषाणु नष्ट नहीं किया गया है, उसको केवल अहानिकर तथा अशक्त बनाकर जीव से निकाल दिया गया तथा यह पता नहीं है कि वह कितने अर्से तक अपने आघात को रोके रख सकता है।

जन्तुओं का धोखेबाज शत्रु. जन्तुओं को रोगी बनाने वाले आंत्र-

विषाणुओं के ग्रुप में पोलियोमायेलिटिस विषाणु के अतिरिक्त खुरपका उत्पन्न करने वाला विषाणु भी अति घातक सिद्ध हुआ। सींगधारी बड़े जन्तुओं के प्रति आक्रमणशीलता तथा उनमें भयंकर जन्तुमारी फैलाने के कारण, जन्तुओं के सभी विषाणुओं में सर्वप्रथम इसको ढूंढ़ा गया (सन् 1897 में एफ. लेफलेर तथा ए. फ्रोश द्वारा)। वर्तमान समय में इस विषाणु के 7 रूप ज्ञात हैं। यह विषाणु वाह्य माध्यम की विभिन्न परि-स्थितियों में भली-भांति कार्य कर सकता है। इसका उद्दीपक, रोगी जन्तुओं के सम्पर्क में आने से—थूक, दूध, मल पदार्थ, कपड़ों, ट्रांसपोर्ट, चारे, आदि, के माध्यम से—स्वस्थ जन्तुओं में फैल जाता है। यह विषाणु यांत्रिक रूप से भी, तथा पक्षियों और मच्छरों आदि से भी, फैलता है।

इस रोग का आरम्भ ज्वर तथा अधिक मात्रा में लाला-स्राव से होता है। इसके बाद मुंह के अन्दर तथा नाक पर, फुंसियां निकल आती हैं (कभी-कभी खुरों पर भी)। रक्त-वाहिकाओं तथा हृदय की पेशियों पर भी इसका प्रभाव पड़ सकता है। यह आवश्यक नहीं कि जन्तु की मृत्यु हो जाये, परन्तु उसका जीवित रहना भी व्यर्थ-सा ही हो जाता है; उसकी उत्पादकता कम हो जाती है, दूध तथा मांस की कोटि निम्न हो जाती है।

खुरपका जैसी जन्तुमारी की तुलना फ्लू की महामारियों से की जा सकती है। जन्तुओं के रोग का उद्दीपक फ्लू की भांति विभिन्न रूप अपनाता है तथा उसी के समान, जहां उसका किसी को आभास तक नहीं होता, वह बड़ी तेजी से फैल जाता है। निस्सन्देह, इस रोग से पीछा छुड़ाने का सर्वाधिक उत्तम उपाय रोधक्षमता हो सकती है। पर इससे पहले कि विषाणु-वैज्ञानिक उत्तेजक का अध्ययन करके टीके का निर्माण करें (इस कार्य में केवल कुछ दिन ही लगते हैं), खुरपका विस्तृत रूप से फैल जाता है। यही कारण है कि जैसे ही खतरे की प्रथम सूचना

मिलती है, रोगी इलाके के चारों ओर पर्याप्त संगरोधता स्थापित की जाती है, रोगी जन्तुओं को अलग रखने के लिए तुरन्त आवश्यक कदम उठाये जाते हैं। परन्तु फिर भी, रोग पर जब विजय प्राप्त की जा चुकी हो तथा उद्दीपक निष्क्रिय हो गया हो, तब भी पशु-चिकित्सकों तथा विषाणु-वैज्ञानिकों को 24 घंटे सतर्क रहना चाहिए। खुरपका का विषाणु बहुत धोखेबाज होता है। अपने को पूर्णतः नष्ट होने से बचाने के लिए, वह कृन्तकों और पक्षियों के शरीर में तथा भूमि में स्थित जीवाणुओं में, उनको बिना कोई हानि पहुंचाये, छिप जाता है।

दुर्भाग्यवश, खुरपका का विषाणु ही जंतुओं तथा मनुष्य को आर्थिक हानि पहुंचाने वाला एकमात्र शत्रु नहीं है। रोगों की सूची में प्लेग तथा मुर्गियों का ल्यूकोस, एन्सेफलाइटिस और घोड़ों का एनीमिया, सींगधारी बड़े जानवरों का भयंकर नजला, कनार, झूठा पागलपन, शहतूत के रेशमी कीड़ों का पीलिया...आदि रोग भी सम्मिलित हैं।

आशा के दीप. ऐसा लगता है कि विषाणुओं पर नियंत्रण रखना बहुत कठिन है। पर वैज्ञानिक हिम्मत नहीं हार रहे हैं। साइबेरियन अल्सर (व्रण) की जंतुमारी अब एक बीते युग की बात बन चुकी है, भेड़ों के चेचक पर विजय प्राप्त की जा चुकी है। जुलाई 1979 में मास्को में आयोजित 21-वें विश्व पशुचिकित्सा-सम्मेलन में बहुत सी बीमारियों पर प्राप्त सफलताओं की चर्चा की गयी। सम्मेलन के बाद समाचारपत्रों में खबर छपी कि रूसी जनतंत्रीय रेशमकीट उत्पादन-अनुसंधान-केन्द्र के वैज्ञानिकों ने भयंकर विषाणु-रोग पीलिया के खतरे से न डरकर रेशम-कीटों के दो नये प्रकारों की खोज की है। यह सफलता ज्ञान, साहसिक कार्यों व अत्यधिक परिश्रम के फलस्वरूप प्राप्त हुई। इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर की सहायता से वैज्ञानिकों ने इल्ली की कुछ किस्मों में पाये जाने वाले पीलिया के विरुद्ध रोधक्षमता उत्पन्न करने के लिए आवश्यक स्थितियां निश्चित कीं, ताकि यह रोधक्षमता उनकी

आने वाली पीढ़ियों में कायम रहे। नये रेशम-कीटों का नाम "काके-शिया-1" व "काकेशिया-2" रखा गया। इनमें, अन्य कीटों की अपेक्षा, पीलिया-विषाणु का मुकाबला करने की शक्ति 30-40 गुनी अधिक थी।

रोधक्षमता, कृषि-उत्पादन-विधियां, विषाणुसह किस्में, आदि, ऐसे साधन हैं जिनका प्रयोग मनुष्य मजबूत ढालों की भांति जानवरों की रक्षा के लिए करता है।

विषाणु-विज्ञान के मुख्य उद्देश्य—मनुष्य की रक्षा—को प्राप्त करने के लिए आवश्यक शोधकार्य बराबर चल रहे हैं। सन् 1959 में इंगलैंड के वैज्ञानिक ए. आइसेक्स और स्विट्जरलैंड के वैज्ञानिक जी. लिन्डमान ने इंटरफेरोन (interferon) का आविष्कार किया। यह वह पदार्थ है जिसको जीव, विषाणु का हमला होने पर, अपने बचाव के लिए तैयार करता है। सोवियत संघ में इस पदार्थ का अध्ययन निम्नलिखित सुप्रसिद्ध विषाणु-वैज्ञानिकों के नेतृत्व में किया गया—सोवियत चिकित्सा-अकादमी के सदस्य जे. येर्मोल्येवा, व्ही. ज्दानव, ए. स्मोरोदीन्त्सेव, व्ही. सोलो-व्योव, एम. चुमाकोव तथा प्रोफेसर एल. फादेयेवा।

ज्ञात हुआ है कि प्रकृति ने जंतुओं व वनस्पतियों में सभी ज्ञात विषाणुओं को नष्ट कर देने वाला (उचित होगा यदि कहूं कि उनका दमन करने के लिए, उनकी उत्पत्ति रोकने के लिए) आवश्यक पदार्थ प्रदान किया हुआ है। इंटरफेरोन के प्रभाव की क्रिया-विधि क्या है? अभी तक पूर्णतया ज्ञात नहीं हुआ है कि कोशिका के अन्दर किस प्रकार की प्रक्रिया होती है तथा वहां विषाणु व इंटरफेरोन एक-दूसरे पर क्या प्रतिक्रिया करते हैं। परन्तु यह स्पष्ट हो गया है कि बिन बुलाये आक्रा-मक की क्रियाओं के बारे में अपनी यह धारणा कि उसको इन क्रियाओं की सजा नहीं मिलती, हमें अब बदलनी पड़ेगी। एक परिकल्पना के अनुसार, जैसे ही विषाणु जीव की सर्वप्रथम कोशिका में घुसता है, इस कोशिका का नाभिक इंटरफेरोन—एक नये प्रोटीन—का संश्लेषण आरम्भ कर देता है जो न तो कोशिका के खुद के प्रोटीन और न ही

विषाणु के प्रोटीन के समान होता है। यह नया प्रोटीन, विषाणुओं को पीछे कर, अन्य कोशिकाओं में फैल जाता है। खतरे की सूचना मिलते ही कोशिकाएं विशेष ध्वंसक के निर्माण में व्यस्त हो जाती हैं। यह अवश्य सच है कि अभी तक इस ध्वंसक को ढूंढ़ने व पृथक करने में सफलता नहीं मिली है। परन्तु खुद इंटरफेरोन का, जो इसके निर्माण में सहायक होता है, अब चिकित्सा में उपयोग होने लगा है। सन् 1965 में फ्लू की महामारी के दौरान इसका अनुकूल प्रभाव सिद्ध हो गया था। जिन लोगों को इंटरफेरोन दी गयी थी, उनके बीच रोगियों की संख्या कई गुना कम थी। इंटरफेरोन आंखों, त्वचा, श्लेष्मल झिल्ली के रोगों को उत्पन्न करने वाले विषाणुओं के विरुद्ध काफी प्रभावशाली सिद्ध होती है।

दुर्भाग्यवश, प्रकृति ने इंटरफेरोन के बड़े पैमाने पर प्रयोग करने के रास्ते में कई रुकावटें खड़ी कर दी हैं। इनमें से प्रथम है—जातिगत विशेषता। कुत्तों के रक्त से प्राप्त इंटरफेरोन केवल कुत्तों के लिए तथा चूहों के रक्त से प्राप्त केवल चूहों के लिए उपयुक्त निकली। मनुष्य के रक्त से प्राप्त इंटरफेरोन से मनुष्य को लाभ होता है। परन्तु मनुष्य के शरीर में इंटरफेरोन की मात्रा बहुत कम है। पूरी तरह रक्षा करने के लिए यह मात्रा प्रायः कम पड़ जाती है तथा विषाणु कोशिकाओं में घुसने में सफल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, इंटरफेरोन का प्रभाव बहुत अल्प समय तक—7 से 10 दिन तक—रहता है, जिस कारण महामारी के दौरान इसको अनेक बार देना आवश्यक है।

इस समस्या को हल करने के लिए ऐसे उत्तेजकों का प्रयोग किया जाना चाहिए जिनसे कि जीव स्वयं इंटरफेरोन तैयार करे। यहां वनस्पतियों के विषाणु मनुष्य के लिए काफी लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। इनमें से बहुत से विषाणु, न केवल वनस्पतियों में विषाणु के विरुद्ध पदार्थ का निर्माण करते हैं बल्कि जंतुओं तथा मनुष्यों के शरीर में इंटरफेरोन के निर्माण में भी सहायक होते हैं। इस प्रकार के विषाणुओं से

युक्त फल तथा सब्जियां जंतुओं और मनुष्यों के लिए अहानिकारक होने के साथ-साथ, अपने पोषणकारी गुणों के कारण लाभदायक भी हैं तथा प्राकृतिक औषधियों का कार्य करती हैं। निस्सन्देह, इनका पूरा सदुपयोग करने के लिए विषाणु-वैज्ञानिकों को काफी परिश्रम करना पड़ेगा। फिल-हाल इस विषाणु रोग से छुटकारा पाने का मुख्य उपाय रोग-निरोधी टीके हैं।

पिछले वर्षों में कुल मिलाकर इंटरफेरोन के 30 लाख से ज्यादा टीके तैयार हुए। इसकी बदौलत सन 1979 में अकेले लेनिनग्राद में 5 लाख से अधिक लोगों को रोग-निरोधी टीके लगाये गये। टीका पूर्णत: अहानिकारक व अत्यधिक प्रभावशाली पाया गया, रोगियों की संख्या तीन गुना से भी अधिक कम हो गयी। सोवियत संघ के स्वास्थ्य मंत्रालय के फ्लू अनुसंधान-संस्थान के आंकड़ों के अनुसार, टीके के प्रयोग के कारण एक वर्ष में 84 लाख रूबल धनराशि की बचत हुई।

आज से 22 वर्ष पूर्व अखिल विश्व जनस्वास्थ्य-सभा ने, सोवियत प्रतिनिधिमंडल की पहल पर, चेचक के उन्मूलन के कार्यक्रम को व्यापक रूप देने का निर्णय किया था। सोवियत चिकित्सकों ने अपने प्रस्ताव को इस तथ्य पर आधारित किया था कि यह भयानक विषाणु-संक्रामक रोग, जिससे कि प्रति वर्ष हजारों लोगों की मृत्यु हो जाती है, तीसरे दशक में ही सोवियत संघ में पूर्णत: मिटा दिया गया था।

अखिल विश्व जनस्वास्थ्य-सभा ने हिसाब लगाया कि चेचक के विश्व में पूर्णत: मिट जाने से लगभग 20 करोड़ डालर की बचत होगी, जो प्रति वर्ष इस रोग से मुक्ति के लिए खर्च किये जाते हैं।

शताब्दी के रोग के रहस्य

जीव के विरुद्ध तोड़-फोड़. कैन्सर—अर्बुद—अत्यधिक रहस्यमय रोगों में से एक है जिसके उद्गम का कारण अभी तक पूरी तरह ज्ञात नहीं हो पाया है। इस रोग के निदान व उपचार के विश्वसनीय साधन अज्ञात हैं। कैन्सर मानवजाति के लिए भयंकर विपत्तियों में से एक है। आधुनिक विज्ञान के सामने जो अति जटिल व उलझी समस्याएं हैं, उनमें कैन्सर का मुख्य स्थान है। अकादमीशियन व्ही. विश्नेव्स्की ने बी. ग्लेम्जेर द्वारा लिखित पुस्तक "कैन्सर के विरुद्ध मानव" की भूमिका में लिखा है : "उस व्यक्ति को सर्वाधिक श्रेष्ठ विद्वान की उपाधि मिलेगी जो कैन्सर के विरुद्ध सर्वसामान्य साधन की खोज कर देगा"।

फिर भी घातक अर्बुद मानव के साथ-साथ जंतुओं व वनस्पतियों में भी विस्तृत रूप से पाये जाते हैं। इसी कारण घातक वर्धन एक सामाजिक समस्या ही नहीं, आर्थिक समस्या भी है। सींगधारी बड़े जानवरों (चौपायों) व पक्षियों के ल्यूकोसिस (रक्त-रोग) राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को विशेष हानि पहुंचाते हैं। इस प्रकार, कैन्सर की समस्या एक व्यापक जीव-विज्ञानी समस्या भी है। जीव-विज्ञान की दृष्टि से कैन्सर, कोशिकाओं के नियंत्रणीय विकास में त्रुटि के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है, जिसके कुछ कारण होते हैं। कैंसर सम्भवतः एक कोशिका—कैंसर-कोशिका—से शुरू होता है, जो सामान्य कोशिका-विकास के नियमों का पालन नहीं करती। कैंसर के दौरान कैंसर-कोशि-काओं की संख्या बौछार के रूप में बढ़ती जाती है। इस तरह की परि-वर्तित कैंसर-कोशिकाएं घातक वर्धन के स्थान का निर्माण कर देती हैं

तथा स्वस्थ ऊतकों का स्थान लेकर जीव में पदार्थों के आदान-प्रदान को भंग कर देती हैं। कैन्सर व स्वस्थ कोशिकाओं के पारस्परिक सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जाते हैं, अर्थात् जीव पूर्णतः भयंकर रूप से रोगी बन जाता है। जीव के रोधक्षमता-तंत्र पर इस समय बहुत जोर पड़ता है; वह अर्बुद के विकास के कारण पूर्णतः निष्क्रिय हो जाता है। जीव की इस अवस्था को प्रतिरक्षा अंगघात कहते हैं।

जीवाणु तथा कैंसर. सूक्ष्मजीव वैज्ञानिकों द्वारा पिछली शताब्दी के अंत में तथा इस शताब्दी के आरम्भ में बहुत सारे संक्रामक रोगों के कारणों के अध्ययन में प्राप्त की गयी अनोखी सफलताओं ने इस आशा को जन्म दिया कि कैन्सर भी जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होता है तथा रोगाणुओं को नष्ट करने वाले उपाय कैन्सर के उपचार में भी लाभदायक होने चाहिए। पिछली शताब्दी के अंत में बहुत सारे शोधकर्ताओं ने अर्बुद से जीवाणुओं को पृथक किया। कुछ वैज्ञानिक इन उपलब्धियों को सांयोगिक मानते थे तथा कुछ का यह कथन था कि ये अर्बुद की उत्पत्ति से सम्बन्धित हैं। अगर यह सच है तो प्रश्न उठता है: कैन्सर यदि संक्रामक रोग है तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह छूने से, संपर्क में आने से, फैलता है? जो लोग कैन्सर को संक्रामक प्रकृति का मानते थे, वे इस बात से सहमत नहीं थे। उनका कहना था : "हां, कैन्सर संक्रामक रोग अवश्य है, पर वह छुतही प्रकृति का नहीं है। इसके फैलने के नियम शुद्ध संक्रामक रोगों के नियमों से भिन्न हैं"।

कुछ ज्येष्ठ शोधकर्ताओं के विचारानुसार कैन्सर फैलाने में मुख्य भूमिका सूक्ष्मजीवों की न होकर, उनकी जीवनचर्या के उत्पादों की है। प्रमुख रोग-विज्ञानी व्ही. पदविसोत्स्की "इस अभिशापी प्रश्न, कि कैन्सर अथवा अन्य कोई भी घातक ब्लास्टोमा (सार्कोमा, ल्यूकोज या कोई अन्य रोग) क्यों होता है जिसके कारण कोशिका की असीमित बढ़ोतरी होती जाती है, के उत्तर को ढूंढ़ न सकने की अपनी असमर्थता के कारण

विषाद की अवस्था में" इस निर्णय पर पहुंचे कि "कैन्सर ऊतकों की बढ़ोतरी व विकास, विभिन्न जीवाणु आविषों के प्रभाव, के फलस्वरूप हो सकता है"।

आधुनिक सूक्ष्मजीव-वैज्ञानिकों के शोधकार्य व्ही. पदविसोत्स्की की दूरदर्शिता की पुष्टि करते हैं। आज इस बात के पूर्ण सबूत हैं कि कुछ फफूंदियां (जो डबलरोटी तथा अन्य खाद्य पदार्थों को खराब कर देती हैं) खराब खाद्य पदार्थों के द्वारा विषालुता के फलस्वरूप यकृत में चिरस्थायी मूजन पैदा कर सकती हैं जो अधिकांशतः अर्बुद का रूप ले लेती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ऐसे सूक्ष्मजीव अथवा उनकी जीवनचर्या के उत्पाद पाये जाते हैं, जो घातक अर्बुदों को उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु यहां यह कहना भी आवश्यक है कि उनकी यह प्रक्रिया संक्रामक रोगों की प्रकृति के विरुद्ध है। सुप्रसिद्ध जर्मन सूक्ष्मजीव-वैज्ञानिक आर. कोख ने इस सम्बन्ध में एक नियम की रचना की जिसके अनुसार "रोग का उद्दीपक अपनी प्रकृति के अनुरूप रोग उत्पन्न करता है, रोग के केन्द्र से उद्दीपक का शुद्ध सूक्ष्मजीवी रूप प्राप्त किया जाता है तथा इसी उद्दीपक के कारण रोग उत्पन्न होता है। कोख के चित्र का संक्षिप्त रूप यह है—"उद्दीपक—रोग—उद्दीपक"। सूक्ष्मजीव—कैन्सर का उद्दीपक—अर्बुद मे प्रायः पृथक नहीं हो पाता है। इस प्रकार यहां कड़ी टूट-सी जाती है।

उद्दीपक के घातक अर्बुद से अदृश्य हो जाने की व्याख्या कैसे की जाये ? आगे चलकर हम यह बतायेंगे कि अर्बुद जाति के विषाणुओं की भी ऐसी ही प्रकृति होती है। विषाणु अर्बुद मे सदा पृथक नहीं किये जा सकते हैं, हालांकि कुछ स्थितियों में वे निश्चय ही उनके उद्दीपक होते हैं। वैज्ञानिकगण विषाणुओं की इस प्रवृत्ति को उनका छद्मवेश कहते हैं।

ऐसा लगता है कि जठरांत्र-तंत्र का नियमित सूक्ष्मवनस्पतिजगत भी कैन्सर की उत्पत्ति व उसकी स्थिति के निर्धारण में निश्चित भूमिका

अदा करता है। उदाहरण के लिए, ज्ञात है कि आंत्र व जठर के कुछ सूक्ष्मजीव ज्ञात कैन्सरजनकों (जो कैन्सर उत्पन्न करते हैं) की विशेष क्रियाओं को प्रेरित करते हैं तथा अकैंसरजनक पदार्थों को कैन्सरजनक पदार्थों में परिवर्तित कर देते हैं।

यहां हम कैन्सर उत्पन्न करने में सामान्य सूक्ष्मवनस्पतिजगत की संभावित भूमिका पर किये गये वाद-विवाद तक अपना वर्णन सीमित रखेंगे, क्योंकि यह हमारे अध्ययन का मुख्य विषय नहीं है। फिर भी, यहां विख्यात रूसी वैज्ञानिक आइ. मेचनिकव के इस दावे की चर्चा उचित होगी कि मनुष्य के शरीर के लिए आंत्र सूक्ष्मवनस्पतिजगत हानिकारक हो सकता है तथा इसको बदलना जरूरी है जिसके लिए पूयक जीवाणुओं की संख्या कम तथा दुग्धाम्ल जीवाणुओं की संख्या अधिक करनी आवश्यक है।

इस प्रकार भावी सूक्ष्मजीव-वैज्ञानिकों तथा कैन्सर-विशेषज्ञों के सामने, सूक्ष्मजीवों की कैन्सर उत्पन्न करने में भूमिका निश्चित करने की कठिन समस्या आ खड़ी हुई है, जिसके समाधान के लिए उन्हें असीमित प्रयास करने पड़ेंगे। ऑन्कोलौजी—कैन्सर के सूक्ष्मजीव विज्ञान—में नये कदम उठाने होंगे जिनके बल पर और नहीं तो कम से कम कैन्सर के रोगियों का जीवन-काल तो बढ़ जायेगा।

सूक्ष्मजीव तथा कैन्सर रोग वनस्पतियों में. आप में से बहुत सारे लोगों ने जंगल में घूमते हुए ऐसे वर्धन देखे होंगे जो कुछ वनस्पतियों में भीमाकार रूप धारण कर लेते हैं। इन वर्धनों को वनस्पतियों का कैन्सर कहते हैं। यह कैन्सर अर्बुद-उत्पत्ति के संक्रमण-सिद्धान्त में विशेष महत्व रखता है तथा इसकी उत्पत्ति एक विशेष दंडाकार रोगाणु Agrobacterium Tumefaciens के कारण होती है। के. स्मिथ तथा जे. टाउजेन्ट ने इस सूक्ष्मजीव की खोज की तथा इसके इस लक्षण को

भी बताया कि वह वनस्पतियों के साथ-साथ मनुष्यों तथा जंतुओं में भी कैन्सर उत्पन्न कर सकता है।

वनस्पतियों के कैन्सर के उद्दीपक की यह विशेषता होती है कि वह अपने द्वारा उत्पन्न किये अर्बुद में नहीं पाया जाता, बल्कि हमेशा अर्बुदी व स्वस्थ ऊतकों के बीच की सीमा में रहता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि ऊपर वर्णित सूक्ष्मजीव, संश्लेषण के अपने उत्पादों द्वारा, स्वस्थ कोशिका को खुद ही अनियन्त्रित रूप से बढ़ने (अर्थात कैन्सर की उत्पत्ति) के लिए मजबूर करता है।

पर पौधे के जीवाणु से मुक्त अर्बुदग्रस्त ऊतक को स्वस्थ पौधे पर लाने से उसमें भी अर्बुद शुरू हो गया। यहां यह परिकल्पना की जा सकती है कि यह जीवाणु अर्बुद को उत्पन्न करके या तो अदृश्य निस्पंद रूप ले लेता है या अर्बुद से अलग होकर सदा के लिए लुप्त हो जाता है—अर्बुदजनक कोशिकाओं के साथ संकृत होकर वह केवल अर्बुद के प्रेरक की भूमिका अदा करता है। यह भी संभव है कि Agrobacterium Tumefaciens तथा वनस्पतियों की संकरता (माता-पिता के गुणों के आधार पर नयी कोशिकाओं के निर्माण) को आर. ए. शिलपेरोट व उनके साथियों के शोधकार्य सत्य सिद्ध करते हों। उन्होंने इन जीवाणुओं के DNA तथा वनस्पतियों के अर्बुदों के DNA में समान गुणों को निर्धारित किया।

जीवाणु DNA तथा स्वस्थ (कैन्सर से मुक्त) वनस्पतियों की पत्तियों के DNA में इस प्रकार के समान गुण नहीं निर्धारित किये जा सके हैं। इस स्थिति में अर्बुद-ग्रन्थि की उत्पत्ति, जीवाणु DNA के वनस्पति-कोशिका के जीन के साथ समाकलन के फलस्वरूप होती है। यहां यह सोचना चाहिए कि इसी कारण जीवाणु को अर्बुद से पृथक करने में सफलता नहीं प्राप्त होती है। यह संभव है कि जीवाणु ने वनस्पति-कोशिका को यह क्षमता (आनुवंशिक रूप से) दे दी कि वह बिना रुके विभाजित होती जाये तथा अर्बुदी वर्धनों का निर्माण करती जाये,

अर्थात् अर्बुदी कोशिका रोगाणु-कोशिका से मिलती-जुलती हो जाये। यह समानता केवल संख्यात्मक ही नहीं गुणात्मक भी है, क्योंकि इन दो भाजनों (अर्थात् कोशिकाओं) के प्रतिजीन जंतुओं में प्रतिच्छेदी रोधक्षम प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करते हैं।

सूक्ष्मजीवों के प्रतिजीनों तथा अर्बुदों की कोशिकाओं के बीच समानता हममें से एक (डी. जी. जातूला) ने सन् 1956 में स्थापित की थी। इसका भविष्य में कैन्सर-अर्बुदों की समस्या का हल ढूंढ़ने तथा उनके उद्‌गम को ज्ञात करने में महत्वपूर्ण योग होगा। ऑन्कोलौजी में यह एक नया कदम है। हमारे द्वारा वर्णित सूक्ष्मजीव, जो मनुष्यों तथा जंतुओं के अर्बुदों के साथ प्रतिजीनी समानता रखता है, कुछ परिस्थितियों में चूहों के कुछ प्रतिरूपों में कैन्सर उत्पन्न कर देता है। किन्तु ऐसा क्यों होता है, इसके कारण अभी तक अज्ञात हैं।

जीवाणुओं की सहायता से वनस्पतियों और जंतुओं में अर्बुदों को उत्पन्न कर पाने की संभावना का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाये, यदि अर्बुदों की उत्पत्ति के संक्रामक (रोगाणुक) सिद्धांत का बहुत पहले ही खण्डन किया जा चुका है? वास्तव में कैन्सर संक्रामक रोग नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कैन्सरी अर्बुद की संक्रमण-प्रकृति की विशिष्टता यह है कि एक ही जाति के एक जंतु से दूसरे में उसका प्रत्यारोपण किया जा सकता है। दूसरी जाति के जंतु में भी अर्बुद उत्पन्न किये जा सकें, इसके लिए विशेष परिस्थितियों की आवश्यकता होती है।

अंत में, जीवाणु कैन्सर उत्पन्न कर सकते हैं या नहीं? इस प्रश्न का हम सकारात्मक उत्तर देते हैं, हालांकि इस परिघटना की क्रियाविधि हम नहीं जानते हैं। जर्मन वैज्ञानिक एफ. ब्ल्यूमेंटाल ने 1932 में ही यह विचार प्रस्तुत किया था कि रोगाणु केवल कुछ अवसरों पर स्वतंत्र रूप से अर्बुदों को उत्पन्न कर सकते हैं। उनके मतानुसार, अधिकांश स्थितियों में उनकी उत्पत्ति अर्बुदी विषाणु के द्वारा होती है जिसके वाहक का कार्य जीवाणु करते हैं। अंतिम शब्दों पर विशेष ध्यान दिया

जाना आवश्यक है क्योंकि ये घातक अर्बुदों की उत्पत्ति के आधुनिक विषाणु-आनुवंशिक सिद्धांत से संगत हैं।

विषाणु तथा कैंसर. वर्तमान समय में अर्बुदों की उत्पत्ति का विषाणु-आनुवंशिक सिद्धांत विज्ञान-जगत में काफी मान्यता प्राप्त कर चुका है जो कि 1908-1911 में ही मुर्गियों के ल्यूकोज व सार्कोमा के ऊपर किये गये प्रयोगों द्वारा सत्य सिद्ध किया जा चुका था।

आज यह प्रश्न नहीं उठता है कि विषाणु अर्बुदों को, विशेषतः प्रयोगाधीन जंतुओं में, उत्पन्न कर सकते हैं या नहीं? अब समस्या बिल्कुल दूसरे प्रकार की है—यह ज्ञात करना कि विषाणुओं द्वारा उत्पन्न अर्बुदों का कार्यक्षेत्र कहां तक विस्तृत है तथा इस परिघटना की क्रिया-विधि कैसी है। कुछ समय पूर्व तक इन प्रश्नों के उत्तर अज्ञात थे तथा केवल अद्वितीय सोवियत वैज्ञानिक एल. जीलबेर द्वारा अर्बुदों की उत्पत्ति के विषाणु-आनुवंशिक सिद्धांत की स्थापना के बाद ही इनमें से कुछ के उत्तर प्राप्त हुए।

इस सिद्धांत की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—ऑन्कोजीनी विषाणु (विषाणु जो कैन्सरी अर्बुद उत्पन्न करता है) विषाणुजीनोम (जिसमें निश्चित सूचना सहित आनुवंशिक इकाई होती है) अथवा उसके अंश के जंतु की कोशिका में प्रवेश के फलस्वरूप सामान्य कोशिका को अर्बुदी कोशिका में आनुवंशिकतः (एक कोशिका से दूसरी कोशिका तक) परिवर्तित कर देता है। ये दो जीनोम (genome) आपस में संयुक्त होकर कोशिका में पूर्णतः नये गुण उत्पन्न कर देते हैं। प्रविष्ट विषाणु अब रूपान्तरित कोशिकाओं की व अर्बुद की उत्पत्ति में किसी भी प्रकार की भूमिका नहीं निभाता है बल्कि नियमतः रक्त तथा अर्बुद-वाहकों के ऊतकों से लुप्त हो जाता है।

इस प्रकार विषाणु-वैज्ञानिकों तथा ऑन्कोलौजिस्टों को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। वे सूक्ष्मदर्शी में अर्बुदी कर्मकों

(विषाणुओं), विशेषत: मनुष्य के विषाणुओं, को नहीं देख पाते हैं। न ही वे उनका उत्पादन कृत्रिम परिवेशों में कर पाते हैं। विषाणु उस अर्बुद के ऊतक से भी पृथक नहीं किये जा सकते, जिसको उन्होंने खुद ही कोशिकारहित सत्व द्वारा प्रेरित किया था। विषाणु लुप्त हो जाता है। इन परिस्थितियों में विषाणु-वैज्ञानिक इनको छद्मवेशी-विषाणु कहते हैं।

बहुत सारे ज्ञात ऑन्कोजीनी (oncogenic) विषाणु, जीव के अन्दर अर्बुद उत्पन्न किये बिना (अपनी सक्रियता दिखाये बिना) ही बहुत दीर्घ काल तक, तथा कभी-कभी हमेशा के लिए, गुप्त रूप से छिपे रह सकते हैं। पर बाद में, अभी तक अज्ञात कारणों के फलस्वरूप, ये विषाणु सक्रिय हो जाते हैं तथा अर्बुद उत्पन्न कर देते हैं और जंतु के सामने मौत का खतरा खड़ा कर देते हैं। सम्भवत: विषाणु कुछ बाहरी तथा कुछ आन्तरिक कारणों से सक्रिय हो जाता है, जिसके फलस्वरूप जीव की, जो ऑन्कोजीनी विषाणु का वाहक होता है, प्रतिरक्षा-क्षमता कम या पूर्णत: नष्ट हो जाती है।

यहां बिल्कुल सही प्रश्न उठता है—क्या विशेष प्रकार के ऑन्कोजीनी विषाणु पाये जाते हैं या सभी प्रकार के संक्रामक विषाणु अर्बुद-रूपान्तरण की क्षमता रखते हैं। वर्तमान काल में ऑन्कोजीनी तथा संक्रामक विषाणुओं के प्रकार्यों में महत्वपूर्ण समानता के प्रमाण उपलब्ध हैं। यथार्थ में, इस प्रकार के ऑन्कोजीनी विषाणु, जैसे राउस सार्कोमा (विषाणु को उसके आविष्कारक पी. राउस का नाम दिया गया), पोलियोमी विषाणु, जो बहुत सारे अर्बुद उत्पन्न करते हैं, कुछ निश्चित परिस्थितियों में अर्बुदरहित रोगों के कारण बन सकते हैं। दूसरे शब्दों में, अर्बुदी विषाणुओं तथा जंतुओं की कोशिकाओं के बीच घटने वाली अभिक्रिया या तो गुप्त संक्रमण का या अर्बुद-रूपान्तरण का रूप ले सकती है —या फिर जंतु-कोशिका में विषाणु-संक्रमण द्वारा उत्पन्न परिवर्तनों के विकास के साथ समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत, कुछ संक्रामक

विषाणु (मनुष्य व जंतुओं का ग्रंथि-विषाणु, परिसर्प-विषाणु, आदि) जंतुओं में अर्बुद के विकास में सहायक हो सकते हैं। इस प्रकार, रोग का लक्षण (कोशिका में विषाणु जीनोम का गुप्त रहना, कोशिका का अर्बुदी कोशिका के रूप में पुनर्जन्म, अथवा कोशिका में विषाणुओं का विकास) मुख्यत: विषाणु और कोशिका की पारस्परिक क्रिया द्वारा निर्धारित होता है (कोशिका की कार्यात्मक अवस्था और उसका जीनोम विषाणु के आनुवंशिकता-तंत्र की अभिव्यक्ति पर प्रभाव डालते हैं)। इसी कारणवश जीव-वैज्ञानिक, जीव-भौतिकीविद, आनुवंशिकी-वैज्ञानिक तथा ऑन्कोलौजिस्ट उन आणविक क्रिया-विधियों के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दे रहे हैं, जो कोशिका के अन्दर विषाणुओं द्वारा संक्रमित प्रक्रियाओं को नियंत्रण में रखती हैं।

ऑन्कोजीनी विषाणुओं को कई वर्गों में विभाजित किया गया है। आधुनिक समय में अमरीकी आणविक विषाणु-वैज्ञानिक आइ. ग्रीन के वर्गीकरण को स्वीकार किया गया है जिसके अनुसार ऑन्कोजीनी विषाणुओं को एक अथवा दूसरे प्रकार के न्यूक्लीक अम्ल की विद्यमानता के सिद्धांत पर विभाजित किया गया है : डेसॉक्सीराइवोन्यूक्लीक अम्ल युक्त—इसके अन्तर्गत 50 प्रकार के विषाणु हैं; तथा, राइवोन्यूक्लीक अम्ल युक्त—जिसके अन्तर्गत 100 प्रकार के विषाणु आते हैं। DNA जीनोम-विषाणुओं के अन्तर्गत पिप्पलार्बुद विषाणु, ग्रंथि-विषाणु, फ्लू तथा परिसर्प-विषाणु, आदि, आते हैं तथा रा. अम्ल जीनोम-विषाणु के अन्तर्गत पक्षियों, चूहों, बिल्लियों, हैम्स्टर, समुद्री शिशुमारों के विषाणु तथा चूहों की स्तन-ग्रंथि के कैन्सर के विषाणु भी आते हैं।

इस प्रकार, हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि DNA -युक्त ऑन्कोजीनों (इनको ऑन्कोना विषाणु भी कहते हैं) तथा RNA -युक्त ऑन्कोजीनों के बीच कुछ आधारभूत भिन्नताएं होती हैं जिनके कारण निम्न निर्णयों पर पहुंचा जा सकता है। DNA-युक्त विषाणुओं के कोशिका में प्रवेश करने के पश्चात या तो इनका तेजी से प्रजनन शुरू हो जाता है या वे

अपनी आनुवंशिक सामग्री को इसी प्रकार की कोशिकाओं से मिला देते हैं, अर्थात दो जीनोम षड्यंत्र करके साधारण कोशिका को अर्बुदी बना देते हैं। ऑन्कोना-विषाणु (RNA-युक्त) संक्रमण उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रखते, वे केवल कोशिका का रूपान्तरण करते हैं। DNA-युक्त विषाणु कोशिका के साथ मिलकर उसमें से गायब हो जा सकते हैं तथा स्वतंत्र रूप से जीवित रह सकते हैं। RNA-युक्त विषाणुओं में यह गुण नहीं होता। कोशिका के साथ संयुक्त होने के पश्चात वे उसमें से लुप्त नहीं होते हैं।

ऑन्कोजीनी DNA-युक्त विषाणु. इनमें सर्वप्रथम स्थान मनुष्य को संक्रमित करने वाले ग्रन्थि-विषाणुओं का है, जिनकी जंतुओं में अर्बुद उत्पन्न करने की क्षमता को सिद्ध किया जा चुका है। नवजात हैम्स्टरों को कुछ ग्रन्थि-विषाणुओं के टीके (12-18 प्रकार के) लगाने के 30 से 90 दिनों बाद, टीके के स्थान पर बहुत अधिक संख्या में अर्बुद उत्पन्न हो जाते हैं। यदि इन अर्बुदों से कोशिकारहित सत्व तैयार किये जायें, तो उनमें भी ऑन्कोजीनी गुण पाये जाते हैं। मनुष्य के ग्रन्थि-विषाणुओं के अतिरिक्त अर्बुदी गुण बन्दरों, पक्षियों, चौपायों तथा अन्य जानवरों के ग्रन्थि-विषाणुओं में भी पाये गये हैं।

मनुष्य के ग्रन्थि-विषाणुओं की कैन्सर उत्पन्न करने की क्षमता को कितना महत्व दिया जाये? क्या ये वास्तव में प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य में कैन्सरी अर्बुद उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी हैं? इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देना असम्भव है। इस संदर्भ में लोगों के विभिन्न विचार हैं। मनुष्य में ग्रंथि-विषाणुओं द्वारा अर्बुद उत्पन्न करने के प्रत्यक्ष प्रमाण एकत्रित नहीं किये जा सके हैं।

मनुष्यों के अर्बुदों तथा ग्रन्थि-विषाणुओं के बीच सम्बन्धों पर सीरमी तथा आणविक जीवविज्ञानी अध्ययन-कार्यों ने नकारात्मक परिणाम पेश किये हैं जिस कारण ग्रन्थि-विषाणु आरोप से लगभग

मुक्त हो जाते हैं । परन्तु फिर भी ऑन्कोजीनों पर अभी भी संदेह है । बहुत सारे शोधकर्ता उन पर विशेष ध्यान दे रहे हैं ।

परिसर्प ग्रुप के विषाणु. यह ग्रुप भी DNA-युक्त विषाणुओं के अन्तर्गत आता है । परिसर्प-विषाणुओं की कुछ जातियां नवजात हैम्स्टरों में सार्कोमा उत्पन्न करती हैं, मुर्गियों में लिम्फोमा तथा मेढकों के गुर्दों में कैन्सर-ग्रन्थि उत्पन्न करती हैं । परिसर्प-विषाणुओं की एक किस्म एब पर (यह नाम पड़ा है इसकी खोज करने वाले अंग्रेज वैज्ञानिकों एम. एप्स्टेन तथा ए. बार के नाम पर) विशेष ध्यान देना आवश्यक है । उन्होंने यह विषाणु सर्वप्रथम मनुष्य के कैन्सरी अर्बुद से पृथक किया था । इस अर्बुद का वर्णन सबसे पहले अंग्रेज शल्यचिकित्सक डी. बेरकिट ने किया था । इसी कारण इसका नाम बेरकिट लिम्फोमा रखा गया है । यह विषाणु वास्तव में ऑन्कोजीनी विषाणु है तथा इसको बन्दरों में प्रवेश कराने पर लसीका पर्तों पर अर्बुद उत्पन्न हो जाते हैं । विज्ञान के लिए इस विषाणु के अत्यन्त रोचक गुण की खोज की गयी है । यह बन्दरों की लिम्फोसाइटों (लसीका कणिकाओं) पर अनोखा प्रभाव डालता है—उन्हें संक्रमित कर देता है । संक्रमित कोशिकाओं की उत्पत्ति बिना रुके बढ़ती जाती है (कोशिकाओं का विकास जीव के बिना कृत्रिम पोषक माध्यमों में होता रहता है) । यह विषाणु बन्दरों में घातक अर्बुदों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है ।

पर यहां एक बात असामान्य है । अमरीकी वैज्ञानिकों के आंकड़ों के अनुसार, निष्क्रिय अवस्था में (गुप्त रूप में) एब विषाणु, रोग का कोई प्रत्यक्ष लक्षण दिखाये बिना, अमरीका की अधिकांश आबादियों में पाया जाता है । यह विषाणु कंठ-रोग से पीड़ित लोगों के कंठ में पाया जाता है (ऐसा कंठ-रोग कैंसर से सम्बन्धित नहीं है), उनके रक्त के सीरम में इस विषाणु के विरुद्ध बहुत बड़ी संख्या में प्रतिकाय मौजूद रहते हैं ।

यहां एक निश्चित प्रश्न उठता है—क्या एब विषाणु कैंसर के

कारण हैं ? वैज्ञानिक इसका नकारात्मक उत्तर देते हैं। यह सम्भव है कि ये विषाणु अर्बुदी ऊतक में जीवित रहने के लिए अनुकूल परिस्थितियां पा जाते हैं। यह भी सम्भव है कि वे RNA-युक्त अर्बुदी विषाणुओं के साथ मिलकर गुट बना लेते हों, जिनको अभी तक पृथक करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई है। कुछ भी हो, समस्या का समाधान पूर्णतः नहीं किया गया है। सम्भव है कि हमारे वर्तमान ज्ञान का निम्न स्तर इस असफलता का कारण हो। इस समस्या को आने वाले विषाणु-वैज्ञानिकों को हल करना है तथा यह कार्य उन्हें अवश्य पूरा करना है।

कैंसरजनक DNA-युक्त विषाणुओं के बारे में हमें क्या जानकारी मिली है ? क्या कैंसर उनके कारण उत्पन्न होता है ? जंतुओं पर किये गये प्रयोगों के आधार पर केवल यह बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि वे साधारण कोशिका को अर्बुदी कोशिका में परिवर्तित कर देते हैं—हालांकि इस कार्य के लिए कुछ विशेष परिस्थितियां आवश्यक होती हैं। वास्तव में इनमें से कुछ विषाणु मनुष्यों व जंतुओं के बीच विस्तृत रूप से फैले हुए हैं। परन्तु उनके अर्बुदी गुण प्रयोग से बाहर निर्धारित नहीं किये जा सके हैं।

भावी अन्वेषकों के सामने महत्वपूर्ण समस्या खड़ी है—ऊपर बताये गये सभी विषाणुओं की प्रकृति पर प्रभाव डालने वाले घटकों का स्पष्टीकरण, DNA-युक्त ऑन्कोजीनी विषाणुओं की दीर्घ काल तक निष्क्रियता को ध्यान में रखते हुए उनकी महामारी फैलाने की क्षमता व उनकी संक्रामकता का अध्ययन, तथा DNA ऑन्कोजीनी विषाणुओं व RNA ऑन्कोजीनी विषाणुओं की संयुक्त पारस्परिक प्रक्रियाओं का स्पष्टीकरण।

राइबोन्यूक्लीक अम्ल युक्त ऑन्कोजीनी विषाणु. इस ग्रुप के विषाणुओं में कई सामान्य जीवविज्ञानी गुण होते हैं—आकार, संरचना, रासायनिक संघटन तथा प्रतिजीनी सक्रियता। ये सभी कोशिका में सरलता से घुस जाते हैं, कई जातियों के जंतुओं को संक्रमित कर देते हैं

तथा कठोर अर्बुदों को उत्पन्न कर देते हैं (इनके अतिरिक्त जलोदरी अर्बुद भी पाये जाते हैं जिनके उत्पन्न होने पर अर्बुदों की कोशिकाएं उदर की गुहा के जलोदरी द्रव्य में तैरती रहती हैं) या पक्षियों, चूहों, हैम्स्टरों, बिल्लियों, बन्दरों में ल्यूकेमिया (रक्त का कैन्सर) उत्पन्न कर देते हैं। सोवियत वैज्ञानिकों ने RNA-युक्त विषाणुओं को "आन्कॉर्ना विषाणु" तथा अन्य देशों के वैज्ञानिकों ने "ल्यूको विषाणु" नाम दिया है।

इन विषाणुओं में ऐसी क्या विशेष बात है? स्पष्ट रूप से उनकी सर्वप्रथम विशेषता यह है कि वे उन प्राकृतिक अर्बुदों की उत्पत्ति में भाग लेते हैं, जो प्रकृति में स्वैच्छिक रूप से पाये जाते हैं न कि प्रयोगशाला में जन्तुओं पर प्रयोगों के फलस्वरूप उत्पन्न किये जाते हैं। वे प्राकृतिक परिस्थितियों में विस्तृत रूप में पाये जाते हैं तथा आनुवंशिकतः माता-पिता से बच्चों में फैलते हैं (वैज्ञानिक भाषा में—ऊर्ध्वाधर रूप में), जबकि संक्रमण क्षैतिज रूप में फैलता है—विभिन्न प्रकार के सम्पर्क द्वारा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक। ये विषाणु दीर्घ काल तक गुप्त रहने की क्षमता रखते हैं।

अर्बुदी विषाणुओं के आण्विक जीव-विज्ञान के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिकों जे. टोडारो तथा आर. ह्यब्नेर की गणना के अनुसार, जंतुओं की कोशिकाओं में सदा RNA-युक्त ऑन्कोजीनी विषाणुओं की आनुवंशिकतः प्राप्त की गयी सूचना विद्यमान होती है। इस सूचना को वैज्ञानिक वाइरोजीन या ऑन्कोजीन कहते हैं। वाइरोजीन सदा कोशिका के आनुवंशिक तन्त्र में विद्यमान रहता है तथा परिस्थितियों के अनुसार सक्रिय हो सकता है व साधारण कोशिका को अर्बुदी कोशिका में परिवर्तित कर सकता है। इस प्रकार की सक्रियता के लिए जीव पर कुछ प्रतिकूल घटकों की प्रक्रिया आवश्यक है—जैसे कि कैन्सरजीनी पदार्थ अथवा मूटजीनी कर्मक की। वाइरोजीन के गुण C, B तथा A प्रकार के विषाणुओं में विद्यमान हैं, जिनको नाभिक की

स्थिति, उसके घनत्व तथा आवरण के आकार के आधार पर पृथक किया गया है। C प्रकार के विषाणु स्तनधारी पशुओं, पक्षियां व सरीसृपों के ल्यूकोज तथा सार्कोमा से तथा B प्रकार के विषाणु चूहों की स्तन-ग्रंथियों के कैन्सर से प्राप्त किये गये हैं। जहां तक A प्रकार के विषाणुओं का प्रश्न है, तो उनका अभी तक भली-भांति अध्ययन नहीं किया जा सका है। वे स्पष्ट रूप से विभिन्न प्रकार के ऐसे बहुत से जंतुओं में विद्यमान हैं, जो अर्बुदों से पीड़ित होते रहते हैं।

यह बताना आवश्यक है कि स्वामी के जीन के प्रकार तथा बाहरी माध्यम का परिष्कार करने वाले घटकों के आधार पर, जन्तु के जीवन-काल में या तो विषाणु की उत्पत्ति हो सकती है, या अर्बुद की——या एक साथ दोनों की उत्पत्ति भी हो सकती है। आनुवंशिक सूचनाएं, जो कि अर्बुदी विषाणु की उत्पत्ति के लिए जिम्मेदार हैं तथा जो निष्क्रिय रूप से जीव की सभी कोशिकाओं में विद्यमान रहती हैं, परिवेश के बहुत सारे वाह्य तथा आन्तरिक घटकों के कारण सक्रिय हो सकती हैं।

इस प्रकार यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि जन्तुओं में ल्यूकोजों की कुछ किस्में तथा संभवतः विभिन्न सार्कोमा, अवश्य ही विषाणु-प्रकृति के होते हैं तथा इनकी उत्पत्ति ऑन्कोर्ना विषाणुओं के कारण होती है। विभिन्न तथ्यों के आधार पर, हालांकि अप्रत्यक्ष रूप में, कम से कम इस परिकल्पना की तो पुष्टि होती ही है कि मनुष्य के ल्यूकोजों को विषाणु उत्पन्न करते हैं, क्योंकि रोगी व्यक्तियों के ल्यूकोजी ऊतकों से प्राप्त कोशिकारहित निस्यंदों को अगर चूहों व कृन्तकों में प्रविष्ट कराया जाये, तो उन्हें ल्यूकोज हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अकादमीशियन बी. लापीन व उनके सहयोगियों तथा प्रोफेसर ए. आगेयेन्को ने ल्यूकोज द्वारा पीड़ित रोगी का निस्यंदित रक्त बन्दरों में प्रवेश कराकर, उनमें मनुष्य के ल्यूकोज से मिलता-जुलता रोग उत्पन्न कर दिखाया। ये परिणाम बहुत महत्वपूर्ण हैं। तथापि, इन निश्चित सफलताओं के प्राप्त होने पर भी इस दिशा में बहुत कुछ अज्ञात तथा अनजाना है।
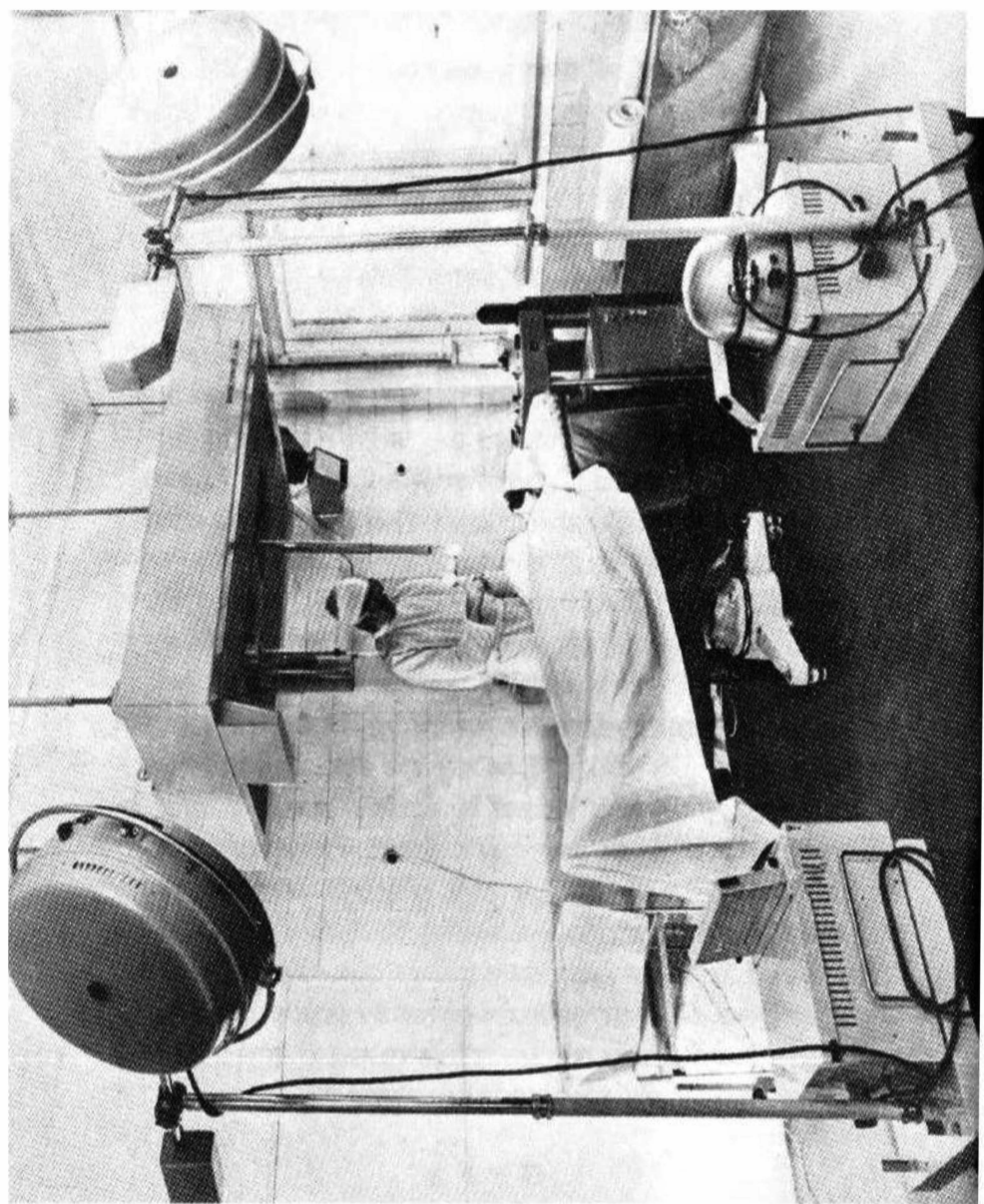
जीव द्वारा खुद की रक्षा. जैसा कि आपको ज्ञात है, प्रकृति ने जन्तुओं तथा वनस्पतियों को प्रतिकाय तथा अन्य "हथियार" प्रदान किये हैं जिनके द्वारा वे अनावश्यक तथा विजातीय कोशिकाओं को ढूंढ़ कर नष्ट कर सकते हैं। यह संभव नहीं कि कैंसर उत्पन्न करने वाले कारणों को नष्ट करने पर कोई ध्यान नहीं दिया गया हो।

इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण शोधकार्यों ने (जिनमें पूर्णतः स्वस्थ लगने वाले व्यक्तियों की मृत्यु के उपरांत उनके शरीर की चीरा-फाड़ी भी शामिल है), इस परिकल्पना को जन्म दिया कि जीव के अन्दर हर समय घातक विरचनों का निर्माण होता रहता है—परन्तु वे तुरन्त ही रक्षात्मक शक्तियों को भी उत्तेजित कर देते हैं। प्राकृतिक हथियार के प्रयोग के कारण रोगी कोशिकाएं (संभवतः उत्तेजकों सहित), बिना बढ़े व जीव को बिना किसी प्रकार की हानि पहुंचाये, स्वयं नष्ट हो जाती हैं। किन्तु रक्षात्मक क्षमता जब क्षीण होती है, तब वे पर्याप्त हानि पहुंचाने में सफल हो जाती हैं। हो सकता है कि जीव की रक्षात्मक शक्तियों का संघटन ही, जो किसी भी अन्य रोग से युद्ध करता है, वह घटक है जो खुद-ब-खुद कैंसर का भी इलाज करता है। जो भी हो, कुछ वैज्ञानिकों ने यह निर्धारित किया है कि जो व्यक्ति बाह्य, विजातीय पदार्थों के प्रति अधिक सक्रियता रखते हैं वे इस रोग के शिकार कम ही होते हैं। इस प्रकार, जीव कैंसर से अरक्षित नहीं है, परन्तु जब वह इसकी शुरूआत में ही इसका सामना करने में असमर्थ हो, तो उसकी तुरन्त—उसी समय—सहायता करनी चाहिए, न कि उसे हानि पहुंचानी चाहिए। धूम्रपान व मद्यपान अर्बुदों के विकास में अत्यधिक सहायक सिद्ध होते हैं। तम्बाकू व मद्य, निर्बल जीव पर काफी तीव्र प्रभाव डालते हैं तथा उपचार-साधनों की क्षमता निम्न कर कैंसर की संभावना सौ गुनी अधिक कर देते हैं।

कुछ अर्बुदीय रोगों के उपचार के लिए लेसर का प्रयोग किया जाता है।

उपसंहार

विषाणु-वैज्ञानिक जिन समस्याओं के समाधान को ढूंढ़ रहे हैं, वे महत्वपूर्ण तथा बहुमुखी हैं। विषाणु-वैज्ञानिकों को न केवल प्राकृतिक घटनाओं पर नियंत्रण रखना होता है, न केवल नियंत्रण से बाहर प्राकृतिक महामारियों, जन्तुमारियों और पादप-महामारियों का मुकाबला करना होता है, बल्कि औद्योगिक उत्पादों के परिणामस्वरूप उत्पन्न अशुद्धता से प्रकृति की रक्षा के उपाय भी सोचने पड़ते हैं।

अन्तरिक्ष का स्वांगीकरण मानवजाति के लिए गौरव की बात है तथा उसको उज्ज्वल भविष्य की आशा दिलाता है।

काल्पनिक लेखों के रचयिता, अन्तरग्रही उड़ानों का वर्णन करते हुए, अन्तरिक्ष-यात्रियों की अन्य विश्वों के आक्रमणशील रोगाणुओं तथा विषाणुओं से हुई मुठभेड़ों की चर्चा करते हैं। विज्ञान के अनुसार इस प्रकार की मुठभेड़ें भविष्य में सम्भव हैं तथा विषाणु-वैज्ञानिकों का यह कर्तव्य है कि वे पृथ्वी के संदेशवाहकों की इनसे सुरक्षा का प्रबंध करें। दीर्घकालीन अंतरिक्ष-उड़ानों के आयोजन में, मनुष्य का विषाणुओं के साथ यानों के बंद अवकाश में रहने की समस्या दूसरी सभी समस्याओं में शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, जिसको अभी तक पूर्णतः हल करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई है। इस समस्या का समाधान ढूंढ़ने के प्रयास शुरू हो चुके हैं। 28 मई 1980 को सोवियत अंतरिक्ष कॉम्प्लेक्स "सोल्यूत-6"—"सोयूज-35"—"सोयूज-36" पर आरूढ़ सोवियत अंतरिक्ष-यात्रियों एल. पपोव, व्ही. र्‍यूमिन, व्ही. कुबासव तथा हंगरी के अंतरिक्ष-यात्री वी. फरकाश ने मनुष्य की कोशिका में इंटर-

फेरोन की उत्पत्ति पर अंतरिक्षी परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन आरम्भ किया। उन्होंने इंटरफेरोन के प्रसाधन, जिसको बचाई के रूप में तैयार किया गया था, के प्रभाव का भी अध्ययन किया। इस प्रकार के, तथा अन्य भावी अंतरिक्ष-शोधकार्य, वैज्ञानिकों को रक्षात्मक पदार्थों के रहस्यों का उद्घाटन करने में तथा विषाणुओं के रहस्यों को और बारीकी से समझ सकने में सहायक सिद्ध होंगे। कौन जाने !—संभव है कि विषाणु, जीवाणुओं का "भोजन" करके, अंतरिक्ष-यात्रियों के लिए खाद्य-पदार्थों का परिरक्षण करना शुरू कर दें, वायु को शुद्ध करना आरम्भ कर दें, अपशिष्ट उत्पादों का परिष्करण करने लगें ?

यह भी कोई असंभव बात नहीं कि विषाणुओं की सहायता से अंतरिक्षी सम्पर्कों की समस्या का हल भी मिल जाये। उदाहरण के लिए, जापानी वैज्ञानिकों हिरोमित्सु योको तथा टाइरो ओसीमा ने इस प्रकार की योजना प्रस्तुत की—अंतरिक्ष में कृत्रिम जीनी कोड सहित एक जीवाणुभोजी को भेजा जाये तथा इस कोड द्वारा पृथ्वी से भेजे संदेश का कूटवाचन किया जाये। मानवजाति के विकास के वर्तमान स्तर पर अन्तरग्रही उड़ानों के संभव मार्ग यद्यपि अज्ञात हैं, और रेडियो संकेत प्रेषित करने पर वे आकाश में प्रकीर्णित हो जाते हैं, तथापि विषाणुओं से भरा कैप्स्यूल उन ग्रहों तक पहुंचने की सम्भावना रखता है जो आकाशगंगा के क्षेत्र में हमसे बहुत ज्यादा दूर नहीं हैं। अन्य ग्रहों के वासी (अगर उनकी सभ्यता पर्याप्त विकसित है), विषाणुओं द्वारा लाये गये जीनी शब्दों की क्रमपूर्वक व्याख्या कर सकते हैं। अगर यह काम उनके बस का नहीं हो, तो पृथ्वी से आये विषाणु किसी अनुकूल जीवाणु में घुस कर प्रतीक्षा कर सकते हैं। यह बात जरूर है कि इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए विषाणुओं के न्यूक्लीक अम्लों के निर्माण की विधि का विशेष रूप से ज्ञात होना आवश्यक है। पृथ्वी के विषाणु, जीनी कोड का कूटवाचन करना सीख गये हैं तथा "जीव अन्तरिक्ष-सम्पर्क" के विचारों के लेखक यह सोचते हैं कि कई सभ्यताएं

(अन्य ग्रहवासी) जीनोमों द्वारा लिखने की क्षमता रखती हैं। ये लेखक DNA के जीवाणुभोजियों में उनके अंतरिक्षी भाइयों द्वारा भेजी गुप्त सूचनाओं को ढूंढ़ने के प्रयास में व्यस्त हैं।

विषाणुओं की उत्पत्ति का प्रश्न एक महत्वपूर्ण दार्शनिक व सार्वजीव-विज्ञानी प्रश्न है। पालियोन्टोलौजिस्टों ने, जो वनस्पतियों तथा जंतुओं की उत्पत्ति का अध्ययन कर रहे हैं, ऐसे अवशेषों को ढूंढ़ा है जिनके आधार पर वे विकासक्रम के विभिन्न चरणों का अध्ययन कर सकते हैं। जहां तक विषाणुओं का सम्बन्ध है, तो उन पर इस प्रकार के शोधकार्यों की कल्पना तक नहीं की जा सकती है। अभी केवल परिकल्पनाओं के आधार पर ही कार्य किया जा सकता है। इनमें से एक परिकल्पना के अनुसार, विषाणु उन सामान्य कोशिकाओं के घटकों से आरम्भ होते हैं जो नियंत्रक-तंत्रों से स्वतंत्र हो चुकी होती हैं। एक दूसरी परि-कल्पना के अनुसार, विषाणु उन जीवाणुओं की संतानें हैं जो अंतर्को-शिकीय परजीवियों के रूप में परिवर्तित हो चुके होते हैं। विकास की प्रक्रिया के दौरान, इन जीवाणुओं के पूर्वजों ने पदार्थों के विनिमय की अपनी प्रकृति तथा कोशिका आवरण खो दिये थे। कोशिका से पहले विषाणुओं की उत्पत्ति की परिकल्पना अधिक विश्वसनीय लगती है—हालांकि इन सब परिकल्पनाओं में से अभी तक एक भी पूर्णतः सत्य सिद्ध नहीं की जा सकी है।

भावी विषाणु-वैज्ञानिकों को विभिन्न विचारों को विकसित और कार्यान्वित करना है। साहसिक स्वप्नों में डूबे, अनुभवी, निष्ठावान वैज्ञानिकों की, जिन्होंने विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों को प्राप्त किया है, यह प्रकृति की एक बिल्कुल अनजानी व निराली दुनिया पर विजय होगी।

●

इस पुस्तक में विषाणुविज्ञान को सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इसमें मनुष्य द्वारा अध्ययन किये जा रहे सूक्ष्मदर्शी अंतर्कोशिकीय जैव पदार्थों – विषाणुओं का वर्णन किया गया है। इसके लेखक द्मीत्री ग्रीगोरेविच जातूला ने जीव विज्ञान में डी० एस० सी० की तथा लेखिका सेविल अशराफ किजी ममेदवा ने पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। द० ग्री० जातूला सोवियत विज्ञान अकादमी के उपसदस्य हैं तथा से० अ० ममेदवा यूक्रेइन के एक सूक्ष्मजीव-विज्ञान-संस्थान में अनुसंधान-कार्य में व्यस्त हैं। लेखकों ने रोचक भाषा में यह बताया है कि विषाणु वैज्ञानिक अदृश्य पदार्थों का अध्ययन कैसे करते हैं, इसके लिए उन्हें कितने विचित्र, कुशल व मनोरंजक ढंग अपनाने पड़ते हैं। पुस्तक में विषाणुओं द्वारा फैलाई जाने वाली बीमारियों व उनसे सुरक्षा के उपायों पर भी विचार किया गया है।